प्रकाशक : देवीलाल सामर अभिनन्दन समारोह समिति,
भारतीय लोक कला मंडल, उदयपुर (राजस्थान)

मूल्य : पन्द्रह रुपये

प्रथम संस्करण : जनवरी, १९७१

मुद्रक : जयपुर प्रिण्टर्स, जयपुर
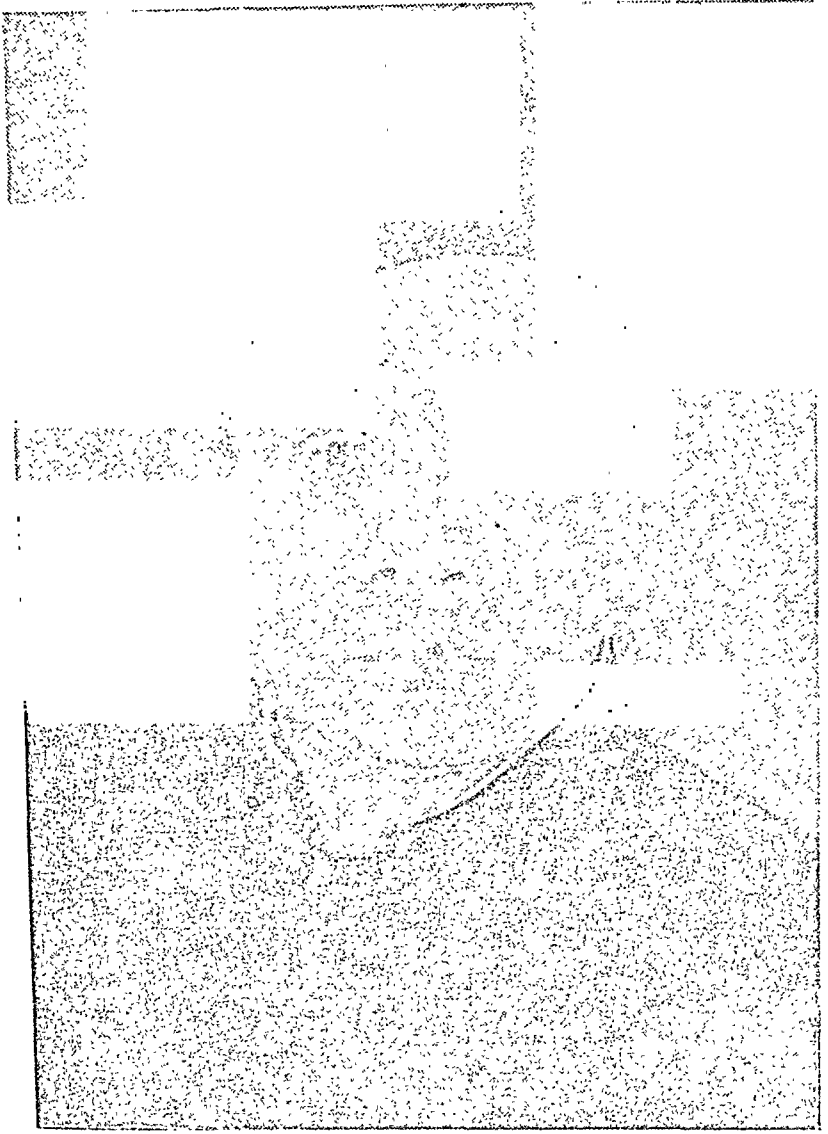
पद्मश्री देवीलाल सामर : गेह्रो फूल गुलाब रो [१९७०]

# प्राक्कथन

देवीलाल सामर अभिनन्दन ग्रन्थ की जो मूल योजना थी उससे 'गेह्रो फूल गुलाब रो' नामक यह ग्रन्थ किंचित भिन्न रूप में प्रकाशित हो रहा है। प्रारम्भ में हमारी योजना एक वृहदाकार ग्रन्थ प्रकाशित करने की थी परन्तु उस योजना में थोड़ा परिवर्तन करना उचित समझा गया, तदनुसार सामरजी के षष्टि-प्रविष्टि-समारोह पर अब एक ग्रन्थ के स्थान पर दो ग्रन्थ प्रकाशित किये जा रहे हैं – प्रस्तुत ग्रन्थ और 'लोकरंग'। प्रस्तुत ग्रन्थ सामरजी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से सम्बन्धित है। इसका यह नाम अभिनन्दन ग्रन्थों की परम्परा से थोड़ा हटकर होने के साथ-साथ सामरजी के समग्र व्यक्तित्व की व्यंजनापूर्ण अभिव्यक्ति करता है।
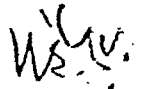
सामरजी का जीवन मूलत: लोकधर्मी कलाओं का जीवन है इसलिए यह उचित समझा गया कि दूसरा ग्रन्थ ऐसा हो जिसमें उन समस्त भारतीय नाट्य-विधाओं का विश्लेषण हो जिन्होंने हमारे लोकमानस को स्वस्थ एवं बहुरंगी धरातल प्रदान किये हैं। 'लोकरंग' ग्रन्थ के पीछे यही दृष्टि रही है। इस ग्रन्थ में भारतीय लोकनाट्यों की चर्चित–कमचर्चित उन सभी महत्त्वपूर्ण विधाओं यथा – रामलीला, रासलीला, माच, तमाशा, गवरी, भवाई, जात्रा, कठपुतली, यक्षगान, ललित, भगत, गोंधल, रमखेलिया, भागवतमेल, विदेशिया, अंकिया, करियाला, दशावतार, नौटंकी, कुरवंजि, साँग, तेरुक्कुत्तु आदि-आदि पर अधिकारी विद्वानों द्वारा लिखित निबन्ध संकलित हैं।

प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रणयन में सुप्रसिद्ध समाज सेवी श्री प्रमोद प्रकाश सिंघल तथा ग्रन्थ के सम्पादक-मंडल एवं परामर्श-मंडल के सदस्यों का विशेष सहयोग रहा है। देवीलाल सामर अभिनन्दन समारोह समिति के सदस्य श्री प्रतापसिंह मुडिया, प्रबन्धमंत्री श्री रूपलाल शाह तथा परामर्शक डॉ० नरेन्द्र भानावत से प्रत्यक्ष में विचार-विमर्श करने के कई अवसर मिले। इन सबके

प्रति आभार प्रकट करना मैं अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ। जिन लेखकों ने अपनी रचनाएँ भेजकर इस ग्रन्थ को मूर्त्त रूप प्रदान करने में सहयोग दिया उनके प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। ग्रन्थ में प्रकाशित लगभग सभी चित्र कला मंडल के फोटो-फिल्म विभाग के अधिकारी श्री गोविंद जिनकी अब केवल स्मृति शेष रही है, तथा श्री ईश्वरी भाटी द्वारा तैयार किये गये हैं। उनका यह सहयोग कभी विस्मृत नहीं किया जा सकता। आवरण पृष्ठ बनाकर श्री पारस भंसाली ने ग्रन्थ के सौन्दर्य में जो वृद्धि की है तदर्थ वे धन्यवाद के पात्र हैं। जयपुर प्रिंटर्स के संचालक श्री सोहनलाल जैन के विशेष रुचि लेने के कारण ही यह ग्रन्थ इतने सुन्दर रूप में पाठकों के समक्ष आ सका।

आशा है, यह ग्रन्थ सामरजी के व्यक्तित्व के बहाने लोकधर्मी परम्पराओं को समझने में विशेष रूप से सहायक सिद्ध होगा।

३५२, श्रीकृष्णपुरा,
उदयपुर (राजस्थान)
५ जनवरी, १९७१

(डॉ० महेन्द्र भानावत)

# अनुक्रम

## सामरजी : एक अन्तर्साक्ष्य

## सृजन के क्षणों में सामरजी



## सामरजी : विचार और अनुभूति

## परिशिष्ट



■

# चित्रसूची

(१) पद्मश्री देवीलाल सामर : गेहरो फूल गुलाब रो, (२) सामर-परिवार : पत्नी, नानी, बहिन और पीछे खड़े हुए सामरजी, (३) विद्यार्थी सामरजी, (४) सामर दंपति : बाया और बावा, (५) सामरजी, अनेक भूमिकाओं की एक भूमिका में, (६) सामरजी : सृजन के क्षणों में, (७) शेखावाटी के एक गाँव में कच्छीघोड़ी नर्तक और कलाजीवी सामरजी, (८) लोक-प्रतिमाओं के एक गाँव में प्रतिमा-निर्माता के साथ सर्वेक्षण करते हुए सामरजी, (९) फिलपोट और सामरजी : दो विश्वविख्यात् कठपुतली मर्मज्ञों का मधुर मिलन, (१०) चिंतन के क्षणों में : विश्व विख्यात् शिक्षाविद् श्रीमती फिशर और सामरजी, (११) सामरजी के स्वप्नों का साकार स्वरूप : भारतीय लोक कला मंडल, उदयपुर, (१२) सामरजी की हस्तलिपि का एक नमूना, (१३) तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय कठपुतली समारोह के लिए विदाई की बेला में सामरजी अपने कठपुतली कलाकारों के साथ, (१४) राष्ट्रपति डॉ. जाकिरहुसैन सामरजी को 'पद्मश्री' प्रदान करते हुए, (१५) सामरजी : अपने

प्रिय पुत्र गोविंद के साथ प्रधानमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री को कला मंडल की गतिविधियों से अवगत कराते हुए, (१६) मुस्कान और गुलाब : सुखाड़ियाजी और सामरजी, (१७) सामरजी : लंदन के विश्वप्रसिद्ध कठपुतली विशेषज्ञ फिलपोट के साथ उनके कठपुतली वर्कशोप में, (१८) राष्ट्रपति श्री वी. वी. गिरि और सामरजी : एक सांध्य-भेंट में, (१९) सामरजी : विश्वविख्यात् कठपुतली विशेषज्ञा श्रीमती मेरिया सिग्नरोली के साथ उनके रोम स्थित कठपुतली कक्ष में, (२०) प्रदर्शनोपरान्त सामरजी को धन्यवाद देते हुए हिमाचल प्रदेश के उप-राज्यपाल और कश्मीर के मुख्यमंत्री श्री सादिक, (२१) सामरजी और उनके कठपुतली कलाकारों को प्रदर्शनोपरान्त धन्यवाद देते हुए राजस्थान के राज्यपाल सरदार हुकमसिंह, (२२) ट्यूनिशिया के पंचम् अन्तर्राष्ट्रीय लोकनृत्य समारोह में राजकीय जुलूस का नेतृत्व करते हुए सामरजी अपने दल-नेता के रूप में, (२३) सामरजी : लंदन के सुप्रसिद्ध कलाकार श्री एलन तथा अपने भवाई नर्तक दयाराम के साथ, (२४) कला मंडल संग्रहालय में भारत के गृहमंत्री श्री चह्वाण तथा राजस्थान के मुख्यमंत्री श्री सुखाड़िया के साथ सामरजी, (२५) सामरजी : सुप्रसिद्ध अभिनेता श्री पृथ्वीराज कपूर के साथ, (२६) बगदाद में सामरजी का स्वागत करते हुए ईराक के विदेश मंत्री, (२७) सामरजी : राजस्थान के शिक्षामंत्री श्री शिवचरण माथुर को बाढ़ पीड़ितों के सहायतार्थ चैक भेंट करते हुए (२८) मारीशस के प्रधानमंत्री श्री रामगुलाम के साथ सामरजी, (२९) तराना नृत्य की मुद्रा में सामरजी, (३०) प्रवचन की मुद्रा में सामरजी, (३१) 'सीताहरण' में राम की भूमिका में सामरजी, (३२) सामरजी : 'मूमल' में खलनायक दुर्गणसिंह की भूमिका में, (३३) सामरजी : 'ढोलामारू' में ढोला की भूमिका में, (३४) सामरजी : अपने वादक कलाकारों के साथ मजीरा वादन में, (३५) 'गंगापार' में सामरजी राम की भूमिका में, (३६) 'म्हाने चाकर राखोजी' में विक्रम की भूमिका में सामरजी, (३७) कठपुतली

रामायण : सीता स्वयंवर में धनुष उठाते हुए भगवान राम, (३८) मुगल दरबार : नर्तकी एवं सारंगी-तबला वादक, (३९) कठपुतली सर्कस : शेर, बकरी और रिंग मास्टर, (४०) कठपुतली नर्तक : अद्भुत करामात, (४१) सामरजी अपने कठपुतली चालकों के साथ पुतली चलाते हुए, (४२) कला मंडल के संस्थापक संचालक सामरजी और व्यवस्था-मंत्री श्री रूपलाल शाह, (४३) सामरजी और ग्रन्थ-प्रणेता डॉ० महेन्द्र भानावत । ■

## सामरजी :
## एक अन्तर्साक्ष्य

- राजस्थान से प्रजास्थान तक
- गेहरो फूल गुलाब रो
- कुंडली और फलितचक्र
- कलाजीवी सामरजी
- सामरजी : मेरे बड़े भाई
- लोकशिल्पी सामरजी

# 1
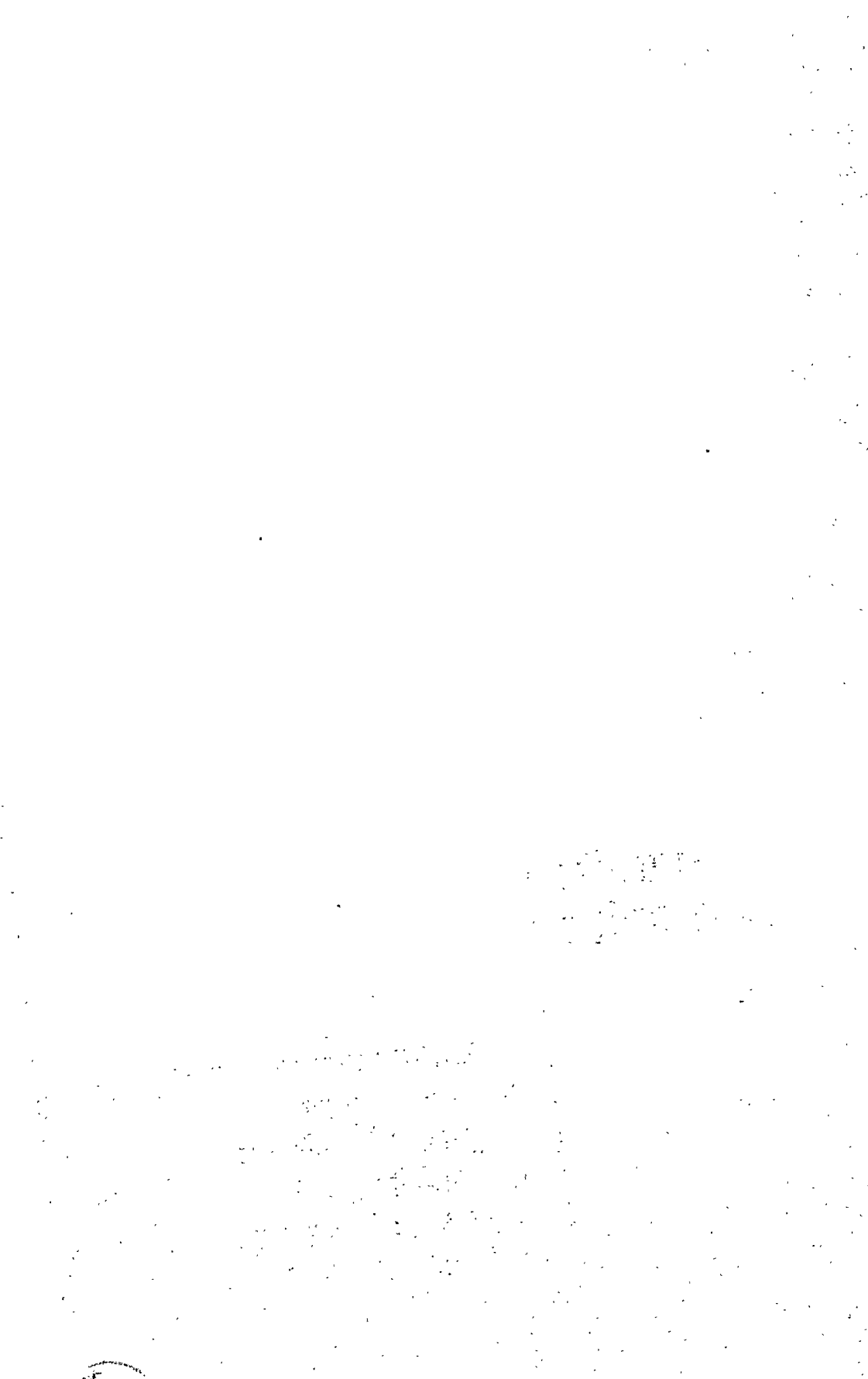
## राजस्थान से प्रजास्थान तक

**डॉ० प्रभाकर माचवे**

ऊँट, केसरिया पाग, लाल-हरे भड़कीले घाघरे, बिंदकीदार ओढ़नी, लम्बी गलमुच्छें, वगलवन्दी, भाले, दूर-दूर तक रेतीले टीले, थोड़े से बबूल, अन्धेरे अंतःपुर, अवरक के आईने, रत्नजटित मोर, पौंची और कमरबन्द, माथे पर बोर, जरी के अँगरखे, खिनखाब की कंचुकियाँ, मसनद और हुक्के, काम कढ़ीहुई चित्तौड़ की जूतियाँ, हाथीदाँत की मीनाकारी की मूठवाली कटारें, बड़े-बड़े जिरह-बख्तर, किरपाण, लहू से टीका, तलवार से व्याह, एक साथ हजारों वीर रमणियों का जौहर, कृष्णरंगराती मीरा बावरी, मारूबाजा, मारवाड़ के मतीरे, कुसुम्भा और बांदियाँ, किले के ऊपर से दागीजानेवाली तोड़े की बन्दूकें, चेतक जैसे नीले घोड़े, भामाशाह, टोडरमल, चन्द जैसे युद्धभूमि पर गानेवाले बड़े-बड़े चारण, बाप्पा रावल, कँवलदे, ख्याल और पवाड़े, मूमल और सस्सी पुन्नू, पाबूजी की पड़, टाड और टेस्सीटोरी, धनोप में पाये गये मूर्तियों के वेणी-बंध, शकों और सीथियनों से साम्य, योद्धागण, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, सोरठे और दूहे, बारामासे, झूले, फाग, डांडियों के रात रात भर नृत्य, देवीपूजा, बलि, सीतला, भोपे, हिचकी, कुरजा और अनेक लोक-गीत, राजस्थानी कलम के ऋतुचित्र, शिकारचित्र, नायिकाएँ, नाथद्वारा शैली के भागवतचित्र, गोखड़े, हवामहल, जंतरमंतर, मानसिंह, अंबरमहल की भित्ति-चित्रावली, मोड़ के कई रूप, उदयपुर के महल की पच्चीकारी, पिछोला झील, झील में जलमहल, विलास के विविध रूप, घाट और अजहद गरीबी, निरंकुश शासन और नंगी पीठों पर कोड़े, जेल की यातनाएँ, अछूतों पर जुल्म, मिर्चें, किरिचें, बीकानेर में जमा की गई हस्तलिखित पोथियाँ और गड़ा हुआ सोना, पानी नहीं घी, वर्ष भर जमा किया गया वर्षा का पानी ।

'राजस्थान' शब्द के उच्चारण से कितने शब्द और बिम्ब और चित्र मन में उतर आते हैं।

और अब १९४७ के बाद, जब सामन्त युग एक अनैतिहासिकता और अनैतिकता बन गया, तब कौनसे चित्र उभर आते हैं मन में, अच्छे-बुरे एक साथ ?

सफेद टोपियाँ इस्त्रीदार झकाझक, उँगलियों में अंगूठियाँ, गले में सोने के चैन, दाढ़ीमूँछ सफाचट (विदेशों से मँगाए बिजली के रेजरों से मुंडित) चमकदार, चर्बीदार चेहरे, तुंदिल-तनु, शब्द-शूर, आश्वासन-प्रचूर, अक्रियावादी, मक्खीचूस, बर्मा या बंगाल में बनिज से खूब कमाकर 'देस' लौटनेवाले अपरिवर्तित व्यापारी, बड़े नेताओं की ऊपर से नकल करनेवाले छुटभैया नेता-नैतिन, छोटे-छोटे अखबारों के अल्पजीवी सम्पादक, छोटे-छोटे आन्दोलनों के कागजी घोड़े दौड़ानेवाले मुहर्रिर और मुदर्रिस और पश्चिम की ओर भिक्षामुख बाए मुसव्विर, नाच-न-जाने आंगन-टेढ़ा वाले बे-सीखे लोकनर्तक, बात-बात पर विदेशी 'कोटेशन' फैंकनेवाले लेक्चररी आलोचक, वैसा ही सपाट, बीराना, फलहीन, बाहर और भीतर भी दिलो-दिमाग में, बहुत कम साधना, बहुत अधिक डींगे हाँकना, इतिहास के नाम पर अन्ध पूर्वज-पूजा, दर्शन के नाम पर नयनसुख शब्दजाल, साहित्य के नाम पर बिन्दुस्रावी गद्यकाव्य, युग के साथ कदम न चला सकने के कारण 'सब दिन चले अढ़ाई कोस' वाली उष्ट्र-विद्या, उद्योग के नाम पर हस्तकला, आईनेवाले छपाई के कपड़े, हुसैन का लघु चित्रपट, कन्दील और जूते, मीराबाई के भजन सुब्बुलक्ष्मी के मुँह से, लाख के चूड़े और खैराद के लकड़ी के खिलौने, कठपुतलियाँ, (मैंने म्युनिक में विश्व कठपुतली संग्रहालय में राजस्थान की कठपुतलियाँ देखीं) राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र में भी मानव स्वरूपधारी कठपुतलियाँ (बोलविता धनी वेगलाची तुकाराम या हिजमास्टर्स वायस) घणी खम्मा अन्दाता के नए-नए राष्ट्रभाषा खड़ीबोली या रंगरेजी रूप, महलों से गायब पच्चीकारी के मंहगे पत्थर, दुर्मिल मूर्तियों और सचित्र हस्तलिखितों का विदेशी पर्यटकों को बेचने का तस्कर व्यापार, खोज के नाम पर चार किताबें जमा करके उन्हें फिर से उल्टा-सीधा लिख लेना, भाषा के नाम पर सिवाय एक लालस के कोश के बहुत कम 'फिल्डवर्क', राजस्थानी और मारवाड़ी में बनी हुई इक्की-दुक्की फिल्में, रामदास सन्त पर और एक-आध हास्यचित्र, वही पिछड़ापन, वही १५% साक्षरता भारत के अन्य प्रान्तों से बहुत कम, वही स्त्रियों की पर्दाप्रथा, वही शारदा के बावजूद बाल-विवाह, वही सब दहेज के चक्कर, वही मृत्युभोज, सामाजिक दृष्टि से स्वराज

से पहलेवाली वही हालत, सिर्फ लिफाफेवाजी, ऊपर-ऊपर रँगामेजी, शिखर पर चूना पोतने से गर्भगृह में मन्दिर के जो सीलन व अन्धेरा और चमगादड़ हैं वे कहाँ जाते हैं ? सब तरह के नये रूपों में सामन्ती पैटर्न, वही पुन: फन उठाती हुई राजभक्ति, वही उसे वीन पर नचाते हुए पत्रकार-गारुड़ी, वही जहर, वही 'साँप ने छोड़ी ने काँचली', वही सावन भादों का जोर, वही आकर्षण, वही भुखमरी, वही अकाल में तड़पती गायें और वैल, वे ही वलई और घसियारे और चमार और ढीमर, वही चेचक और गन्दा पानी और त्वचा रोग, क्या वदला है ? रोटियों की मांग पर लाठियाँ, नौकरियों की मांग पर आँसू-गैस...

ऐसे चित्र मन में उभरते हैं कि खिन्नता और खेद, ग्लानि और लज्जा वढ़ती है। हमारे ही लोग और ऐसा पिछड़ापन, ऐसा काला सोना, ऐसी दल वदल वाली राजनैतिक दलदल, ये साहित्यिक संकीर्णताएँ और ऐसा सुरुचि का अभाव ? आखिर क्यों और कब तक ?

इस अंधेरे में कभी-कभी एक-आध चिराग टिमटिमाता है। ऐसी आशा-ज्योतियों में एक संस्था उदयपुर की भारतीय लोक कला मंडल है और उसकी स्नेहमय आत्मा हैं देवीलाल सामर (अब पद्मश्री)। मैं उन्हें, उदयशंकर के ट्रूप के साथ वे थे, तब से जानता हूँ। सन् ५३ में मैंने जयनारायण व्यास लिखित चम्वल पर उनका वैले देखा उज्जैन में, वहुत प्रभावित हुआ। बाद में उदयपुर में राजस्थान साहित्य अकादमी के एक सेमीनार में गया था, तब संस्था का संग्रहालय देखा। तब कठपुतली के तंत्र-विशेषज्ञ जेकोस्लोवाकिया से विशेष शिक्षण प्राप्त उनके प्रिय पुत्र शिष्य कर्णिक थे। अब वे नहीं हैं इसका वड़ा ही अफसोस है। सामरजी का जैसे दाहिना हाथ टूट गया। उसी दिन राजस्थान के प्रख्यात मुस्लिम लंगा लोकगायकों से वाद्य और कण्ठसंगीत सुना। यह संस्था सामरजी की लगन और साधना का प्रतीक है। एक पूरा सपना जैसे उन्होंने सजीव और मूर्त कर डाला। ऐसे दस-वीस साधना और निष्ठा के लोग हों तो देश में तो लोककलाओं की रक्षा और उनकी जीवन्त परम्पराओं के निर्वाह का प्रश्न ही नहीं उठे।

पर राजतंत्र से प्रजातंत्र में शासनयंत्र के वदलने से लोकसाहित्य और लोककला की रक्षा और आश्रयदान की जिम्मेदारी सीधे प्रजा पर आ जाती है। अमेरिका में मैंने देखा – विश्वविद्यालय में एक दिन वूढ़ी माताओं, दादी अम्माओं, नाना-चाचाओं का दिन मनता है। गाँव से आये लड़के तथा लड़कियाँ हाथ से वनी चीजों का प्रदर्शन करते हैं – 'यह मेरी माँ की बनाईहुई कसीदाकारी है',

'यह हमारे घर में तीन पीढ़ी से चलनेवाला चरखा है', 'यह बालों से बनाया हुआ फ्रेम है', 'यह अखरोट के छिलकों से बनायाहुआ चित्र है।' ऐसी अनेक वस्तुएँ फख़र और नाज से दिखाते हैं। हमारे बच्चे कॉलेजों में अपनी परम्पराओं से घृणा करना सीखते हैं। विगत के प्रति विनत होना तो दूर माज़ी से मुँह मोड़ते हैं। जर्मनी में देखा – हर छोटी से छोटी चीज को बड़े सँवार से संग्रहालयों में रखा है। यहाँ तक कि एक होटल में मैंने घोड़ागाड़ियों के पुराने ढंग के लैम्प और घंटियाँ भी देखीं। एक होटल में अठारहवीं सदी के बर्तन तक थे। श्रीलंका में मैंने देखा – बौद्ध भिक्षुओं के पास पुराने से पुराने बुद्ध के जीवन संबंधी चित्र, मूर्तियों, चीवरों, भिक्षापात्रों तक के संग्रह हैं। हमें पता नहीं क्या हो गया है। पुराना हमने पूरी तरह जाना भी नहीं कि मूर्ख बालक की तरह हम रूठकर उसे ठुकराने में लगे हैं – नहीं मालूम कब बुद्धि आयेगी।

एक डर और है। पुराने सामन्ती संस्कार 'नानारूपाय, नानावेशाय' फिर उभर-उभर कर आते रहते हैं। वे जीवनपोषी नहीं, जीवन-शोषी तत्व हैं। उनसे बचना बहुत जरूरी है। लोकसाहित्य, लोककला, लोकभाषा की सुरक्षा के नाम पर कभी-कभी वे ही तत्व उभर आते हैं और ऐसी लड़ाइयाँ सुनने को मिलती हैं कि हाड़ौती में लोकसाहित्य श्रेष्ठ है या मारवाड़ी में, मेवाती में या जैसलमेरी में? भीलों की तो कुछ कहावतें, लोकगीत, एक कोश भी संगृहीत हुआ है, पर अन्य कई बोलियाँ उपेक्षिता पड़ी हैं। इन अहल्याओं को, शिलीभूत संवेदनाओं को कौनसे राम का पद-स्पर्श मिलेगा और कब? आजकल के राम तो पंचवटी पसन्द नहीं करते और न वन की ओर प्रस्थान करना उन्हें भाता है। 'मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया' के बदले अब कुटिया से अधिक राजभवन पसंद करनेवाली रानियाँ हैं। सो पुराने संस्कारगीत, ऋतुगीत, उत्सवगीत, देवी-देवताओं के गीत, यहाँ तक कि शिशुगीत भी तेजी से नष्ट होते जारहे हैं। सही वैज्ञानिक दृष्टिवाले शोध-बोध वाले घूमन्तू विद्वानों की कमी है। सात समुन्दर पार से इटालवी और अँग्रेज भाषा-शास्त्रज्ञ और इतिहासकार दुर्धर मरुप्रदेश में आकर अनाल्स और व्याकरण लिखते-बनाते रहे अनाम-अजानी भाषाओं के। और हम हैं कि हमारे पास इतना कुछ मूल्यवान है और वह भी बिखर रहा है, पर हम उसकी चिन्ता नहीं करते। हमें कौनसा साँप सूँघ गया है?

यह नहीं कि पैसे की कमी है। राजस्थान में एक-एक श्रेष्ठीजन के घर में स्त्रियों के अंगों पर आभूषणों के रूप में सुवर्ण विजड़ित अवस्था में है। लक्ष्मी जहाँ कैद है, क्या उस द्रव्य का सदुपयोग नहीं हो सकता? या फिर

उसे दस्युशरण ही जाना है। यानी कोई डाकू हलाकू उसका अपहरण करे, तभी कोई उद्धार हो। उस सारे सुप्त सुवर्ण को कोई अक्षर संज्ञा देनेवाला प्रज्ञापुरुष कब सामने आयेगा ? उन अक्षरों से शब्द और परिच्छेद और पुस्तकें कब बनेंगी जो जन-जन तक पहुँच सकेंगी ? प्रजायुग में थोड़ों का बहुतों तक साझा समझना होगा। राजस्थान में भी निराला, राहुल, प्रेमचन्द की परम्परा के लेखक पैदा होंगे और इस अपार भण्डार को बहुजनहिताय फैलायेंगे। भरतपुर के पास रहकर एकाध रांगेय राघव 'कबतक पुकारूँ' चिल्लाते रहे। पर अभी तक काम बाकी है। सौन्दर्य का इतना बड़ा संग्रह परिकथा की राजकुमारी की तरह सोया हुआ पड़ा है। उसके अधरों को वह अमरत्व का स्पर्श देनेवाला कोई चाहिये। देवीलालजी सामर ने सही रास्ता दिखाया है उस पर और लोग चलें।

मरुप्रदेश का भी भविष्य होता है। विज्ञान ने बड़ी-बड़ी दिशाएँ अन्य देशों में दिखाई हैं। इसराएल ने मरुप्रदेश को मनोरम उद्यान में परिवर्तित करदिया। साइबेरिया के स्टेप्पीज अब जीवन से लहलहाते बन गये। चीन का गोबी रेगिस्तान अब बालू का ढेर नहीं है। मानवी प्रयत्नों के आगे कौनसा ऐसा वेस्टलेंड और परती जमीन का हिस्सा है जो नन्दन-कानन नहीं बन सकता ? नहरें लाई जा सकती हैं। हरियाली फूट सकती है। 'सूखी री यह डाल वसन वासंती लेगी'। यदि राजनैतिक क्षुद्रताएँ कम हो जाएँ और कुछ समय के लिए सारी रचनात्मक शक्तियाँ इधर लग जाएँ तो बहुत कुछ किया जा सकता है। राजस्थान में इतने विश्वविद्यालय हैं पर कहीं राजस्थानी भाषा पर विशेष अध्ययन की व्यवस्था क्यों नहीं ? और क्यों नहीं हर हिन्दी प्रदेश के विश्वविद्यालय में वहाँ के स्थानीय लोकसाहित्य की एक विशेष आसन्दी (चेयर) ? किसने रोका है यह काम करने के लिए ? बर्लिन म्युजियम के हर्टेल बतारहे थे कि विश्वविद्यालय के छात्र उनके पास प्राच्यविद्या, लोककला पर शोध करने आते हैं। हमारे विश्वविद्यालयों से संग्रहालय कब तक छिटके रहेंगे, दोनों क्यों नहीं पास-पास आते ? कौनसी बाधा है ? मैं समझता हूँ केवल हमारे लोकमानस की पूँजीभूत संकल्पशक्ति की बाधा है। वह जब जागेगा तो लोकतंत्र में लोक यों उपेक्षित नहीं रह सकेगा।

खिलौने, वेशभूषा, आभरण, मृत्पात्र, कंघियाँ, चमड़े की चीजें, बाँस से बनी चीजें, लाख और हाथीदाँत व पीतल-काँसे की चीजें, शास्त्रास्त्र, काठ का काम, दारू-कारू, निवार और छपाई और बंधाई और वाद्य-वयन — पचासों ऐसे मार्ग हैं जिनसे लोकमानस के सौन्दर्य प्रेम का स्रोत सीमाहीन रूप से

खिलखिलाता बहता है। हम अभागे हैं कि उस सौन्दर्य-सुरसरी में निमज्जन करने से अपने आपको बचाये हैं। हम यंत्रयुग की टूटी टोंटी से बूँद-बूँद टपकते गंदले जल से ही परितृप्त हैं जब कि हमारे पास से यह स्रोतस्विनी ठाठें मार रही है। वन्या के रूप में लहरा रही है। हमें सामरजी जैसे कलाकारों का ऋणी होना चाहिए कि वे याद दिलाते हैं कि अभी यह स्रोत पूरी तरह सूखा नहीं है। हृदय का थाला अभी पूरी तरह उजड़ा नहीं है। मन अभी 'मुर्दों का टीला' नहीं बना है। इस अभिनन्दन में मैं सामरजी के शुभ-संकल्प और योजनाओं को अपनी विनम्र स्नेह-आदरांजलि अर्पित करता हूँ। ■

2

# गेह्‌रो फूल गुलाब रो

डॉ० महेन्द्र भानावत

## देवीपुत्र सामरजी :

सामरजी का देवीलाल नाम देवीपुत्र होने के कारण रखा गया। पिता अर्जुनसिंहजी के जब कोई संतान नहीं हुई तो वे बड़े चिंतित हुए। फलत: उन्हें दूसरी शादी करनी पड़ी। उससे संतान अवश्य हुई पर वह लड़की थी अत: उनकी चिंता ज्यों की त्यों बनी रही। एक दिन किसी समझेबूझे होशियार ज्योतिषी ने उनका हाथ देखकर कहा कि आपको संतान का सुख तो है पर उसका मुँह नहीं देख पाओगे। यही हुआ। सामरजी के जन्म लेने के तीन माह पूर्व ही उनके पिता परलोकगामी हो गये। माता अलोलबाई धार्मिकवृत्ति की आध्यात्मिक महिला थीं। देवीदेवताओं में उनकी पूरी आस्था श्रद्धा थी। उन्होंने पुत्र प्राप्ति को देवी का ही वरदान माना और इसीलिए देवी नाम से उसका नाम भी देवीलाल (देवी-पुत्र) रख दिया।

## पितृवियोग – समुद्र सा शोक :

३० जुलाई १९११ को उदयपुर के खैरादीवाड़ा में सामरजी का जन्म। उच्च ओसवाल कुल। प्रतिष्ठित घराना। पिता उदयपुर राज्य के नायब हाकिम। समाज में अच्छी पहुँच। बाँसड़ावाले की पोल में 'सामरजी की हवेली' नाम से पुरखाओं की नामी हवेली। सब कुछ। पर पिता के अभाव में खुशियों, बधाइयों तथा बैण्डबाजों के गाजेबाजे के विपरीत गहरा अवसाद। समुद्र सा फैला शोक और पहाड़ सा भारी गम। थाल बजी पर उसमें वैसी झँकार नहीं सुनाई दी। इसलिए बहुतों को एक और देवी (पुत्री) होने का भयभ्रम हो आया। पतिवियोग में अलोलबाई का जीना तो वैसे ही मरणतुल्य हुआ जा रहा था।

## नानी के लाड़-प्यार :

नानी धन्य हुई अपनी लाड़िली के लाल को पाकर। बरसों की उसकी साध फली है। टोपले टोपले, डड़बे डड़बे लाड़ और भाँति-भाँति के झगलों, टोपियों का सिणगार। नीठ-नीठ जन्मा लाला हाथों के हाथों में पल रहा है।

दृष्टि अभी जमी नहीं है मगर चंचल बालक अपने चारों ओर हाथपांवों से उछाल भर रहा है। उसके गालों पे लगे मामें मुलका रहे हैं। नानी की खुशियों का जहाँ पार नहीं वहाँ कभी-कभी 'अलोल' का दुख उसे देखा नहीं जाता है। दड़-दड़ गिरते आँसुओं में वह लाले को सुनाती जाती है—'आज अगर तुम्हारे बाबासा होते'......'अपना उणियारा तुम्हारे में पाकर वे कितने खुश होते'......'एकबार तुम्हारा वे चेहरा तो देख लेते'......'तुम्हारे लिए उन्होंने क्या नहीं किया'......'कहाँ नहीं भटके'......'पैसे को पानी की तरह बहाया और खून को पसीना-पसीना कर दिया'......

लाला जैसे सबकुछ समझता है। नानी का दर्द चुपचाप सुनता है, सहमता है, रोता है और फिर-फिर मुलक पड़ता है।

## भाईबहन और माँ :

बड़ी बहन, छोटा भाई। केवल दोनों भाईबहन और तीसरी माँ। लाला बड़ा हो रहा है। घुटनों से चलता और शरीर से रेंगता है। उसकी बढ़ती देख माँ अपने गम को किसी तरह भुला रही है। विधवा माँ ने अपना सर्वस्व बच्चे में उँडेल दिया है और बच्चे ने ममतामयी माँ की गोद में ही पिता का प्यार, लाड़, दुलार, सबकुछ पा लिया है।

## पड़ोसिनों की बैठक :

यदाकदा मिलनेवालों की, पड़ोसिनों की बैठक जम जाती है। प्रसंग-प्रसंग में काम बेकाम की कई बातें छिड़ जाती हैं। तभी एक बात निकल आती है—'भगवान्, माँ से किसी बच्चे को दूर न करना। बाप के बिना तो फिर भी बच्चा रह सकता है पर माँ के बिना कौन उसकी परवरिश करे? कौन सहलाये, प्यार दे, थपकियों से सुलाये, लोरियों में रिझाये, दुलराये, हुलराये? माँ के बिना बच्चा जैसे अनाथ, असहाय, रबड़ेल और कण-कण का कंकड़ हो जाता है। दर-दर की ठोकरें खाता है। धुत्कार, दुत्कार और वह सबकुछ जो सुनने सहन करने लायक नहीं होता......।'

सामर-परिवार : पत्नी, नानी, वहिन और पीछे खड़े हुए सामरजी [१९४०]

विद्यार्थी सामरजी [१९२९]

सामर दम्पति : बाया और बाबा [१९७०]

'गंगापार' में सामरजी राम की भूमिका में [१९५५]

'म्हाने चाकर राखोजी' में सामरजी विक्रम की भूमिका में [१९६४]
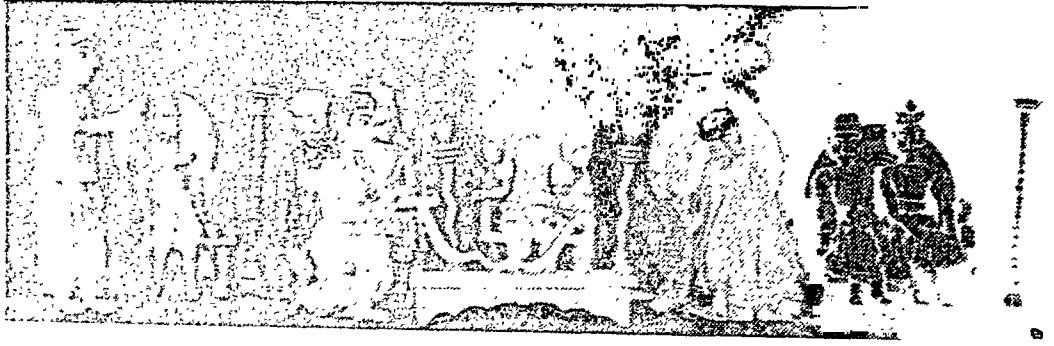
कठपुतली रामायण : सीता-स्वयंवर में धनुष उठाते हुए भगवान् राम [१९६५]

मुगल दरबार : नर्तकी एवं सारंगी-तबला वादक [१९६६]

कठपुतली सर्कस : शेर, बकरी और रिंग मास्टर [१९६८]

किसे पता था कि यह बात जैसे उस बालक पर ही घटित होनेवाली है जो अपनी माँ की ओर टकटक देखता हुआ उन सारी बातों को गटर-गटर सुन पी रहा है ?

## जिद्दी बालक – पिता की तलाश :

पाँच वर्ष का बच्चा एकदिन रोता-रोता आता है और माँ से अपने साथियों की शिकायत करता है। जिद्द पे अड़ जाता है। कहता है – 'पिताजी कहाँ हैं; मैं उनसे कहकर उनके डण्डे पड़वाऊँगा।' माँ अपनी छाती को कठोर कर उसे धीरज दिलाती है – 'बेटा जिद्द मत कर, तुम्हारे पिताजी 'दूर देश' तुम्हारे लिए अच्छे-अच्छे खिलौने और मिठाइयाँ लेने गए हैं।' यह कह माँ उसे बोतल में रखी छोटी-छोटी पीपरमेण्ट की गोलियां देकर उसका ध्यान बदल देती है।

कुछ महीनों बाद माँ भी 'दूर देश' अपने पति की राह लेती है।

## मातृवियोग और नानी की कहानी :

बच्चा दुबक-दुबककर सिसकियाँ भरता है और याद करता है माँ की वह बात। अब उसके लिए नानी ही सब कुछ रह गई है। उसके मातृवत् स्नेह–दुलार और दुबकियों से बालक विश्वास पागया है। नानी प्रतिदिन नई-नई कहानियाँ सुनाती है। न केवल सुनाती ही है। अपनी सुनाई कहानियाँ उससे भी सुनती है। गेय कहानियों को मधुर कण्ठ से गवाती है। स्वयं गाती है। बच्चा आनन्दविभोर हो जाता है। तभी एक दिन उसे गुड़िया तथा अन्य खेल-खिलौनों की कहानी सुनाती है। इसे सुनते ही बच्चे की पुरानी स्मृति सरस हो उठती है। वह नानी से कह बैठता है – 'नानी, माँ कहाँ गई है ? एक दिन उसने मुझे कहा था कि मेरे पिताजी दूर देश मेरे लिए खिलौने और मिठाइयाँ लेने गए हैं। वे कब लौटेंगे ?' नानी कहती है – 'वे अभी नहीं लौटे हैं बेटा, तुम्हारी माँ भी वहीं गई है। दोनों साथ-साथ लौटेंगे, तुम्हारे लिए ढेर सारी मिठाइयां और खिलौने लावेंगे। ले सुन एक अच्छी सी कहानी रूपाबाई और सोनाबाई की।' नानी उसका ध्यान कहानी पर केन्द्रित कर लेती है। वह गाने लग जाती है –

उतरो उतरो ओ म्हारी सोनाबाई बेन्या<br>
रूपाबाई बेन्या<br>
ढोल नगाड़ा बाजीरया......

## भाईबहन–पढ़ाई और लड़ाई :

भाई-बहन दोनों पढ़ने जाते हैं। दोनों के खूब अच्छी पटती है। दोनों के लिए, हर चीज दो-दो लाई जाती है। एक जैसी, ताकि दोनों प्रसन्न रहें। एकसी पाटियाँ, एकसे वस्ते, एकसे बरतणों और एकसे थैले। भाई पढ़ने में अधिक तेज नहीं है, बहन तेज है। वैसे भी तेज है पर उतनी तर्राट नहीं, चंचल है। कभी-कभी दोनों के दो टेप्या भी नहीं बनती है। भाई नानी से शिकायत करता है। नानी स्नेहवश मारती-पीटती नहीं है केवल डांटती-डपकारती है। लेकिन केवल डांट-डपकार से बालक सामर को संतोष नहीं बंधता है तब हल्की-सी जलेबीनुमा चपत जमाई जाती है। कभी कान का कोकर्‌या मसल दिया जाता है। बहन उदयकंवर के कोई फर्क नहीं पड़ता है। वह और प्रसन्न होती है और भाई को अँगूठा दिखाकर उसे चिढ़ाना प्रारंभ कर देती है। बार-बार की शिकायत से नानी परेशान हो जाती है। वह कभी झाड़ू हाथ में ले लेती है तो कभी घोवणा। उदयकंवर उछल भागती है। नानी को भी हँसी आजाती है।

लाले के सब वार खाली जा रहे हैं। वह बहन को मजा चखा देना चाहता है। मन ही मन अटकलें लड़ा रहा है पर बात कुछ समझ में नहीं बैठ रही है। इतने में उदयकंवर उसे छेड़ती है –

'देवा' गणपत आजा<br>
मोरे मन छाजा<br>
सभा में रंग बरसाजा रे......

भैया 'देवा' नाम से बहुत चिढ़ गया है। टग्गी पे उतर आया है। पाँवों से जूते खोल फैंक दिए हैं। किताब को कबूतर के पँख की तरह तितरवितर करदी है। स्लेट पटकदी है पर वह टूटी नहीं है। इसलिए वह बार-बार उसे पटकी देता है और अन्त में उसके तीन तूंबड़े कर देता है। नानी बहुत समझाती-बुझाती है। गुस्सा भी आता है पर कुछ कहती नहीं है, इस डर से कि कल लोग कहेंगे – 'बिना माँ-बाप के बच्चों को हरेक थोड़े ही पाल सकता है। नानी के यहाँ भी कौनसा सुख है बिचारों को?' इसलिए नानी इन्हें अछन-अछन रखती है।

## नाच-गान के रास :

उदयकंवर गीत बहुत सीख गई है। उसकी गायकी में देवबाबू भी कभी कभी साथ दे देता है। कभी-कभी बहिन देवा को अकेले ही गाने के लिए बिठा

देती है। एक दिन देव को वधावा गाने के लिए कह दिया। कंठ सुन्दर होने के कारण देव ने बड़ी तन्मय मस्ती के साथ उसे गाया और ताल की ठुमकियाँ दीं –

सोना ने रूपा री घड़ी आज रे हगामी ढोला पामणा रे लो।

हो राज म्हारे किरपा कीधी छै रघुनाथ रे
हगामी ढोला पामणा रे लो।

हो राज म्हारे गेंद गला रो रूड़ो हार रे
हगामी ढोला पामणा रे लो।

हो राज म्हारे ठीक बण्यो छै रूड़ो ठाठ रे
हगामी ढोला पामणा रे लो।

बहुत अच्छा गाने पर उसने लाले की पीठ थपथपाई और खाने को चनबोर दिए। बहन ने चुपके से लाले के कान में कहा 'तूने कौनसा गीत गा दिया रे, उसमें तो नानी भी आगई थी ? तुझे नहीं मालूम नानी का नाम भी हगामी है।' 'तब तो हम इसे गाकर नानी को चिड़ाएंगे।' लाले ने मसखरी की।

## सामरजी और लीला मंडलियाँ :

उन दिनों उदयपुर में रामलीला तथा रासलीला का अच्छा प्रचार था। स्वस्थ लोकानुरंजन के इनसे बढ़िया और कोई साधन नहीं थे। ये दल बाहर से आते थे और यहाँ दो-दो, तीन-तीन महीनों तक जमते थे। इन्हें देखने के लिए शहर का शहर उमड़ पड़ता था। ये लीला दल आमतौर से मीठारामजी के मंदिर तथा वर्तमान फतहमेमोरियल के यहाँ जो पहले धर्मशाला थी, उसमें अपना खेल दिखाया करते थे। उस समय फैशन का कोई चलन नहीं था। तब सामरजी छै-सात वर्ष के थे और दोलंगी धोती और टोपी पहिनते थे। इन लीलाओं के प्रति सामरजी को बड़ा शौक था। नानी तो यद्यपि इन्हें लीला देखने की छूट दे देती थी पर मामा (मालमसिंहजी सरूपरिया) को इस बात के लिए राजी करना टेढ़ी खीर थी। मामा भी निःसंतान थे। अतः सामरजी को वे बड़े लाड़-प्यार से तो रखते थे पर घर से बाहर निकलने की तनिक भी छूट नहीं देते थे। लीला देखे बिना सामरजी को चैन नहीं पड़ती थी। कभी नानी से अनुनय-विनय कर तो कभी लुपके-चुपके आँख चुराकर रामलीला देखने जाया करते और रात को चोर की तरह चुपचाप आकर सो जाते।

कभी-कभार जब मामा को पता लग जाता तो वे उन पर बुरी तरह बरस पड़ते। हल्की-फुल्की गालियाँ दे बैठते परन्तु तब भी जब सामरजी ठिकाने

नहीं आते तो फिर उनकी अच्छी पिटाई भी हो जाती। कभी-कभी वीचवचाव के लिए नानी आती और डाड़ें पाड़ते हुए सामर को पुचकारकर सुलादेती। सामरजी दो-दो घंटे तक वचुके ताणते रहते। इतना सब कुछ होने पर भी राम लीला देखने की आदत उनकी वैसी की वैसी वनी रही। डांट डण्डों की चोट से भी रामलीला में उन्हें अधिक रस लगा अतः वे निःस्संकोच विना पूछेताछे ही रात पड़ते-पड़ते निकल जाते। लीलाएँ देखते और शेष रात्रि गर्मी, सर्दी, वरसात आदि की परवाह किए वगैर दुकान, चवूतरा, कहीं भी जहां खाली जगह मिलती, झपकी में निकाल लेते। नानी उनके वचाव की तैयारी करकराकर सोती। वह जानती थी कि मालमसिंह को यदि उसके गायव रहने की वात ज्ञात होगई तो सुवह होते ही उसकी अच्छी धुनाई करदेगा। इसलिए वह अपने पास लोटे तथा मूसल को रजाई पछेवड़े से भली प्रकार ढक नकली सामर वनाकर सोती। कभी मामा पूछ भी लेता तो नानी उसके सोने का संकेत कर उस रात की छुट्टी पाती।

## रासलीला का शौक :

रासलीला का आयोजन कभी अस्थल में, कभी वाईजीराज के कुण्ड पर तथा कभी मेहतासा फतहलालजी पन्नालालजी की हवेली में होता था। ये लीलाएँ कभी-कभी अपने ही मर्यादित क्षेत्रवालों के लिए होती थीं। वाहरवालों के देखने जाने के लिए मनाही रहती थी। परन्तु सामरजी को इन लीलाओं को देखने का शौक उस नशेवाज की तरह था जिसे जीवित रहने के लिए अनिवार्यतः नशा लेना होता है। सामरजी आव देखते न ताव, कट्ठी हिम्मत करके औरतों के वीच भीड़ में चुपके से जा निकलते। कभी सफलता मिलती, कभी नहीं मिलती तो वे डांट-डपट, गाली-गलौच तथा लाठी-लत्ती सव कुछ खा लेते पर लीला देखना तनिक भी नहीं चूकते।

सामरजी को मात्र लीलाएँ देखने से ही संतोप नहीं होता। इसके साथ-साथ लीला करनेवाले खिलाड़ियों से मिलना-जुलना, उनके जीवन व्यवहार से परिचित होना, खेल की वारीकियों के सम्वन्ध में जानकारी प्राप्त करना, नृत्य, संगीत तथा वाद्यों के सम्वन्ध में उनसे पूछताछ करना और खेल के कलातंत्र-विषयक घण्टों वातचीत करने में भी उनकी विशेष दिलचस्पी रहती थी।

## रामलीला का छन्नू :

एक वार मथुरा की रामलीला मण्डली उदयपुर में आई। इस मण्डली में छन्नू नामक एक अच्छा कलाकार था जो जनाना वनता था। इसके सम्पर्क में

आकर सामरजी बड़े प्रभावित हुए। रात को छन्नू का खेल देखते और दिन को जाकर रामायण की चौपाइयाँ रटते। उससे नाचना, गाना सीखते, रियाज करते और अपना सीखा हुआ नाच-गान उसे बताते, सुनाते। उदयपुर से जब यह रामलीला नाथद्वारा चली गई तो सामरजी भी उसके साथ चुपके से भाग गये। इससे बड़ी तबाही मची। खोजबीन की गई, तब एक दिन नाथद्वारा में छन्नू के साथ रामलीला में भाग लेते हुए पकड़े गये। यह बात सामरजी की कोई ग्यारह-बारह वर्ष की उम्र की है जब वे छठी-सातवीं में पढ़ते थे, मगर ये दिन गर्मियों में पड़नेवाली छुट्टियों के थे। अतः पढ़ाई से वे निश्चित थे।

## सामरलीला-शौकिया संचालक :

छन्नू को छोड़ने पर भी नाचने-गाने और अभिनय करने का उनका शौक कम नहीं हुआ। अन्तर से तो सामरजी छन्नू को नहीं छोड़ना चाहते थे। उसके साथ-साथ लीलादल में ही कलाकार की हैसियत से रहना चाहते थे। शरीर से सुन्दर, सुडौल, मनमोहक मुखाकृति तथा सुरीला कंठ होने के कारण छन्नू-दलवाले भी सामरजी को नहीं छोड़ना चाहते थे पर मामा के जबर्दस्त अंकुश के आगे किसी की नहीं चली। फलतः छन्नू के साथ लीला करने की ख्वाहिश को सामरजी ने अपना अलग दल बनाकर पूरी करनी प्रारम्भ करदी। स्कूल से आने के बाद रात्रि को अपने कुछ दोस्तों के साथ सामरजी ने लीला तैयारी प्रारम्भ करदी। इधर-उधर से पोशाकें कबाड़ते, स्वयं धनुष कमान तीर एवं मुकुट बनाते। खेल की तैयारी करवाते और चंदा आदि से गैसबत्ती का इन्तजाम करते। दो-दो, तीन-तीन पैसे का टिकट रखते। कुछ पैसा आरती फिराकर एकत्र करते और इस तरह से अपनी इस छोटी सी मण्डली का सरलतापूर्वक संचालन करते। मगर उनके घरवालों को उनकी ये हरकतें भी पसंद नहीं थीं।

## स्काउट आश्रम और सुथरा जीवन :

इन्हीं दिनों (सन् १९२५ में) इनका सम्पर्क प्रसिद्ध शिक्षाविद् एवं प्रशासक डॉ० मोहनसिंह मेहता से हुआ। उन दिनों भाईसाहब (डॉ० मेहता) स्काउट आश्रम चलाते थे। भाईसाहब ने अपने आश्रम में कई विद्यार्थियों को स्काउट बनाकर अच्छे नागरिक बनने की तालीम दी। इसलिए स्काउट बनना बड़ा महत्त्वपूर्ण एवं गौरवप्रद समझा जाता था। भाईसाहब अच्छे होनहार लड़कों को ही छांट-छांटकर खूब ठोक-पीटकर स्काउट बनाते थे। इस दृष्टि से सामरजी पूर्णतः दीक्षित तो नहीं हो पाये परन्तु उनकी प्रतिभा छिपी नहीं रही। फलतः

सामरजी को डॉ० मेहता का पितृवत् स्नेह मिला, साथ ही कैम्पफायर आदि में अपनी नाच-गान की शौकिया किन्तु जीवन की आवश्यकीय प्रतिभा को विकसित करने का अच्छा अवसर भी हाथ लगा। घरवालों का अंकुश रहने (नहीं रहने) के कारण सामरजी और उच्छृंखल हो चुके थे। स्काउट आश्रम में इनकी इन सभी बातों पर प्रतिबन्ध लगा। भाईसाहब के कड़े किन्तु सहज-सुलभ नियंत्रण से इनमें काफी सुधार हुआ। हर रोज रात्रि को दिनभर के किए गए गलत कार्यों एवं भूलों-अपराधों की सही, सच्ची रिपोर्ट भाईसाहब के समक्ष प्रस्तुत करनी पड़ती थी। 'आज मामा की जेब से पाँच पैसे चुराए हैं।' 'दो बार झूठ बोला हूँ।' 'दोस्त को चकमा दिया है।' 'रामू की आँख में धूल झोंककर अपना उल्लू सीधा किया है।' भाईसाहब इन सारी बातों को सुनकर डांटते-डपकारते नहीं मगर प्रेमभाव से समझा-बुझाकर उन्हें ठीक राह पर लाते थे। इससे सामरजी को बड़ी प्रेरणा मिली और उनका सारा जीवनक्रम ही सुव्यवस्थित एवं सुथरा बन गया।

## शुभ विवाह :

सोलह वर्ष की उम्र में हाईस्कूल की परीक्षा पास करने के चार महीने पहले ही मामा ने सामरजी का विवाह उदयपुर में श्री बलवन्तसिंहजी मुंडिया की सुपुत्री जतनबाई से कर दिया।

## काशी विश्वविद्यालय :

१९२७ में सामरजी आगे अध्ययन करने के लिए बनारस चले गए। इस काम में उनके श्वसुर श्री बलवन्तसिंहजी की मुख्य भूमिका रही। आर्थिक दृष्टि से भी इन्होंने सामरजी की अच्छी सहायता की। मित्रों के प्रयत्नों से कलकत्ता के सेठ प्रभुदयाल मानसिंहका से तीस रुपये प्रतिमाह छात्रवृत्ति भी इन्हें मिलनी प्रारंभ होगई। काशी विश्वविद्यालय का अपना अच्छा नाटकदल था। सामरजी को यहां और अच्छा अवसर मिला। कुछ ही दिनों में सामरजी श्रेष्ठ कलाकारअभिनेता के रूप में सबकी आँखों के तारे बन गये। यहां इन्होंने बीसों नाटक खेले। वीर अभिमन्यु, रुक्मणीमंगल, महाभारत, कृष्णार्जुन युद्ध, शाहजहाँ, चन्द्रगुप्त, कृष्णलीला, मेवाड़ पतन, इन्द्रसभा, भीष्मपितामह आदि में इनकी मुख्य नायिकाओं की भूमिकाएँ रहीं। नायिका के अभिनय में उन दिनों सामरजी खूब फबते थे। वेशविन्यास, अभिनय-भंगिमाएँ तथा नाट्य प्रस्तुतीकरण में ये हूबहू स्त्री ही लगते थे। कई बार तो लोगों को विश्वास ही नहीं होता

कि सामरजी इतना उत्कृष्ट रोल कर सकेंगे जिसमें रात-दिन साथ रहनेवाले उनके मित्र भी उन्हें नहीं पहिचान पाएँगे। वीर अभिमन्यु में सामरजी का उत्तरा का अभिनय देख विश्वविद्यालय के संस्थापक पं० मदनमोहन मालवीय भी एक बार मुग्ध हो गए थे। ऐसे श्रेष्ठ अभिनय पर उन्होंने सामरजी को गले लगाकर आशीर्वाद दिया और पुरस्कार भी। वाइस चांसलर प्रो० आनन्द शंकर बापूभाई ध्रुव की भी उन पर बड़ी कृपा थी। यहां सामरजी ने संगीतरत्न पं० शिवप्रसाद त्रिपाठी से संगीत तथा वायलीन की शिक्षा ग्रहण की।

## नाटक कम्पनियों में सखियों का रोल :

सामरजी ने यहाँ बाद में होस्टल में रहना प्रारंभ कर दिया था। वार्डन नंदीबाबू नामक एक बंगाली सज्जन थे। बनारस में उन दिनों नाटक की अन्य कंपनियाँ भी अपने प्रदर्शन दिया करती थीं। इनमें कोरनथियन कंपनी तथा मदन थियेटर्स बड़ी प्रसिद्ध नाटक मंडलियाँ थीं। सामरजी रात-रात इनके प्रदर्शन देखने भी जाया करते थे। यही नहीं, इनके अच्छे सम्पर्क में भी ये आये। कोरनथियन में उन दिनों मास्टर नर्बदाशंकर जो हिन्दुस्तान के जानेमाने लेडी पार्ट करने वाले थे, के अच्छे मित्र बने। इन नाट्य मंडलियों में भी सामरजी ने शौकिया कलाकार के रूप में भाग लिया। इसी प्रकार मदन थियेटर्स में ये प्रायः सखियों का अभिनय करते थे और इनसे जो कुछ हाथ लगता (एक अभिनय के चार-पांच रुपए) उससे अपनी हाथ-खर्ची निकालते थे। बाबू श्यामसुन्दरदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा लाला भगवानदीन जैसे लब्धप्रतिष्ठ आचार्यों की सामरजी पर विशेष कृपा-प्रेरणा रही। यही कारण था कि विज्ञान के विद्यार्थी होते हुए भी साहित्य एवं कला में इनकी विशेष रुचि रही। १९२९ में इन्होंने यहां इण्टर साइन्स की परीक्षा पास की और बी. एससी. में बैठे। इस परीक्षा का प्रेक्टीकल दिया और थ्योरी देने ही वाले थे कि (१९३० में) महात्मा गांधी का सत्याग्रह आन्दोलन प्रारम्भ होगया। सामरजी ने पढ़ना छोड़ दिया। विदेशी कपड़ों के साथ-साथ अपनी पाठ्यपुस्तकों की भी होली जलादी। छात्र-आन्दोलन में भी इन्होंने भाग लिया।

## सत्याग्रह आन्दोलन :

उदयपुर में जब नानी को इस खबर की सूचना मिली तो वह बड़ी घबराई और उसने जब तक सामरजी उदयपुर नहीं लौट आवें तब तक के लिए भूख-हड़ताल प्रारम्भ करदी। इससे मामा बड़े परेशान हुए। सामरजी को चिट्ठियों

पर चिट्ठियाँ लिखीं, अन्यों से भी लिखवाईं कि किसी तरह वे उदयपुर आकर नानी को संभालें। नानी की भूख-हड़ताल से सामरजी बड़े चिंतित हुए। फलस्वरूप आन्दोलन छोड़ वे उदयपुर आगये।

## नाट्यदलों की स्थापना :

स्काउट आश्रम के माध्यम से उन्होंने शौकिया नाटक मंडली तैयार की। नाटकों की यह प्रवृत्ति यहाँ इतनी अधिक बढ़ी और लोगों द्वारा पसंद की गई कि जगह-जगह सामरजी की प्रेरणा से नाट्य-दल स्थापित होगए। वीर अभिमन्यु ड्रामेटिक क्लब, महाराणा भूपाल कालेज नाटक क्लब, बालचर अभिनय मंडली, संगीत कला प्रवर्तक नाटक क्लब जैसी लगभग चौदह नाटक मंडलियाँ प्रारम्भ हुईं। सामरजी की प्रेरणा, निर्देशन और प्रदर्शन से इन नाटक मंडलियों ने अच्छा नाम कमाया। इनके माध्यम से सामरजी ने शाहजहाँ, दुर्गादास, मेवाड़ पतन, ईश्वरभक्ति, कृष्णार्जुनयुद्ध, सिकन्दर, महाभारत, भीष्मपितामह जैसे नाटक अभिमंचित किए। इससे पूर्व उदयपुर में ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण मेवाड़ में ऐसी कोई नाट्य-मंडलियाँ नहीं थीं। हाँ यदाकदा पारसी रंगमंच से प्रभावित न्यू अलफ्रेड, न्यू एलफिन्स्टीन, कोरनथियन, एलेक्जेन्ड्रिया, मदन थियेटर्स जैसी मंडलियाँ आकर नाटक दिखाया करती थीं। परन्तु इनसे प्राप्त मनोरंजन उतना स्वस्थ, उत्कृष्ट नहीं होता था। इनमें लटकइयापन अधिक रहता था। इस कमी को सामरजी ने नाट्य-मंडलियों के माध्यम से दूर की। यही नहीं, अभिनय के लिए इन्होंने नाटकों का प्रणयन भी आरंभ किया। परिणामस्वरूप हिन्दी नाटक साहित्य को इन्होंने कई अच्छे सफल अभिनेय नाटक दिए।

## डॉ० मेहता की प्रेरणा :

नाट्य संबंधी उन दिनों के संस्मरण में सामरजी ने एक जगह लिखा भी है —

बाहरी कलाकेन्द्रों से प्रेरणा लेकर डॉ० मेहता ने स्काउट आश्रम में सर्वप्रथम बालचर अभिनय मंडली स्थापित करके एक क्रान्तिकारी कदम उठाया। इस नाट्य मंडली द्वारा १९२७ में सर्वप्रथम वीर अभिमन्यु नाटक प्रस्तुत किया गया जो किसी भी अव्यावसायिक संगठन द्वारा प्रदर्शित उदयपुर का प्रथम नाट्य था। इस नाट्य की सब तरफ चर्चा हुई और उदयपुर के बड़े-बूढ़ों ने इसका जबर्दस्त विरोध किया। लेखक इस नाट्य प्रवृत्ति का अग्रणी था इसलिए वही इस विरोध का सबसे बड़ा शिकार बन गया और समाज एवं परिवार की अनेक यातनाएँ सहकर भी उसने उदयपुर में शौकिया नाटक की नींव डाली।

सामरजी : अनेक भूमिकाओं की एक भूमिका में [१६६४]
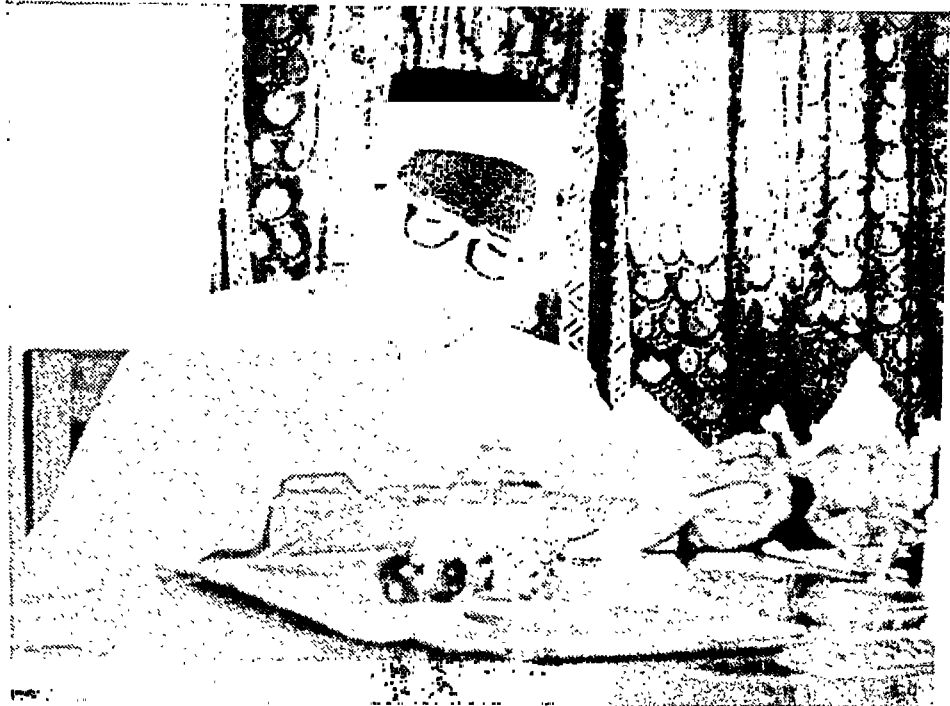
तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय कठपुतली समारोह के लिए विदाई की वेला में सामरजी अपने कठपुतली कलाकारों के साथ [१९६५]

राष्ट्रपति डॉ० जाकिर हुसैन सामरजी को 'पद्मश्री' प्रदान करते हुए [१९६९]

इस नाट्य-प्रयोग के बाद उदयपुर नगर में कुल मिलाकर १४ नाट्य-संगठन स्थापित हुए जिनमें किसी न किसी रूप में लेखक का संबंध अवश्य था। इन नाट्य-संगठनों में एमेच्योर नाट्य क्लब, संगीत नृत्य प्रवर्तक अभिनय मंडल, वीर अभिमन्यु नाटक क्लब, बालचर नाट्य मंडल, विद्याभवन कलामंडल, महाराणा कालेज नाट्य मंडल आदि प्रमुख थे। इन नाट्य-संगठनों ने महाभारत, वीर अभिमन्यु, ईश्वरभक्ति, इन्द्रसभा, चन्द्रगुप्त, शाहजहाँ, भीष्म पितामह, किरातार्जुनयुद्ध, वीर शिवाजी, कृष्णभक्ति, वरमाला, द्रौपदी-स्वयंवर, भक्त प्रह्लाद, ध्रुवचरित्र, वीर दुर्गादास, खूने नाहक आदि नाटक प्रस्तुत करके उदयपुर के नागरिक जीवन में एक विचित्र सी लहर पैदा करदी। इन नाटकों में विशेष रूप से सक्रिय होने वाले महानुभाव थे – डॉ० कमलनयन, श्रीयुत् मदनसिंहजी भटनागर, श्री प्यारेलालजी, बाबू अर्जुनसिंहजी, श्री पन्नालालजी अग्रवाल, प्रो० श्यामस्वरूप कुलश्रेष्ठ, श्री गोवर्धनजी जोशी, श्रीयुत् हरिपाद मुखर्जी, डॉ० शम्भूलाल शर्मा, डॉ० कालूलाल श्रीमाली आदि। इन नाट्य-प्रयोगों से उदयपुर के विद्यार्थीजीवन में भी प्राणों का संचार हुआ क्योंकि उस समय उदयपुर के स्कूलों में सिवाय किताबी पढ़ाई के बच्चों के व्यक्तित्व-विकास के लिए कुछ भी साधन नहीं थे। इन नाट्य-प्रयोगों के कारण ही इनके साथ गाने, बजाने, नाचने, परदों पर चित्र बनाने, रंगमंच बनाने, बिजली लगाने, पोशाक बनाने आदि की अनेक कलाओं को प्रोत्साहन मिला। जो कलाकार महाराणा साहब के राजदरबार में ही शोभा पाते थे वे इन नाटकों में भी प्रयुक्त हुए, जिनमें प्रसिद्ध अभिनेता एवं संगीतज्ञ श्रीयुत् गिरधारीलालजी, भागीरथजी, प्रसिद्ध वायलीनवादक भूरेखाँ, सारंगीवादक बिहारीलाल, उदयलाल, तबलावादक नाथू आदि प्रमुख थे। इन कलाकारों के संसर्ग से उस समय के नवयुवकों को, जिन्हें स्कूल और घर में किसी प्रकार का सांस्कृतिक वातावरण नहीं मिलता था, खुलकर गाने, बजाने, नाचने तथा अभिनय करने का मौका मिला।

## सामरजी और समाज :

सामरजी की नाचने, गाने, और नाटक करने की ये प्रवृत्तियाँ उनके मामा को अब भी बेहूदी लग रही थीं। इन प्रवृत्तियों से वे उनसे सख्त नाराज थे फिर समाजवालों की ओर से भी उन पर दबाव डाला जाता कि सामर का यदि इस कला से पिण्ड नहीं छुड़वाया तो उन्हें जाति से बहिष्कृत कर दिया जायगा। उन दिनों समाज का अंकुश बड़ा जबर्दस्त था। समाज से निष्कासित व्यक्ति बड़ा हीन और हेय समझा जाता था। समाज में उसका आना-जाना बन्द कर

दिया जाता था। और तो और समाज से बहिष्कृत व्यक्ति अपनी बहन-बेटियों तथा रिश्ते-नातेवालों से भी हेलमेल नहीं रख सकता था। ऐसी स्थिति में उसके जीवित रहने की दुखमय स्थिति की कल्पना सहज ही की जा सकती है।

सामरजी को भी ये सारी बातें बड़ी दकियानूसी लगीं। मामा के लिए भी वे सरदर्द नहीं बनना चाहते थे। फलतः उन्होंने मामा का घर छोड़ दिया। कई दिनों तक उन्हें भूखा-प्यासा रहना पड़ा। कई लोगों की ऊँची-नीची बातें भी सुननी पड़ीं परन्तु धुन के धनी कलाजीवी सामर-मन ने किसी की परवाह नहीं की। मन से, तन से समाज तक को ठोकर मारदी। एक दिन बहुत बीमार पड़ गये। मामा को मुँह तक नहीं बताया। न किसी समाजवाले से ही इन्होंने शरण चाही। डॉ० मेहता के वरदहस्त में स्काउट आश्रम में रहकर इन्होंने अपनी बीमारी काटी और प्रसिद्ध गायक जियाउद्दीनखाँ साहब से संगीत की शिक्षा प्राप्त की। उनका शिष्यत्व ग्रहण कर इन्होंने उनसे ध्रुपद, धमार सीखी, उसके बाद आगे शिक्षा के लिए लखनऊ मेरिस कालेज में भेज दिए गए परन्तु अपना स्वास्थ्य ठीक नहीं रहने के कारण सामरजी वहाँ अधिक नहीं रह सके। वे उदयपुर लौट आए। यह बात लगभग १९३० के आसपास की है जब सामरजी की उम्र केवल उन्नीस वर्ष की थी।

### विद्याभवन में प्रवेश :

इन्हीं दिनों डॉ० मेहता ने विद्याभवन (जो आज भारत की सुप्रसिद्ध शैक्षणिक संस्थाओं में गिना जाता है।) की स्थापना की। भाईसाहब के कहने से सामरजी ने इसमें अपनी सेवाएँ देनी प्रारंभ करदीं। छोटे से स्कूल के रूप में इसका प्रारंभ देवगढ़ की हवेली ( जहाँ आज रवीन्द्रनाथ टैगोर आयुर्विज्ञान महाविद्यालय है।) में किया गया था। उन दिनों सामरजी के अतिरिक्त दो अध्यापक और थे जिनमें एक डॉ० कालूलाल श्रीमाली भी थे। स्कूल में झाड़ू देने से लेकर पानी भरने, डाक डालने तथा चपरासी, क्लर्क का सारा काम भी ये ही लोग करते थे। धीरे-धीरे विद्याभवन का दायरा बढ़ता गया। सामरजी यहाँ हिन्दी और संगीत पढ़ाते थे। उन दिनों संस्थाओं की स्थापना के पीछे एक विशिष्ट लक्ष्य हुआ करता था—'अच्छे होनहार प्रतिभाशाली बालक तैयार करना।' अतः वहाँ के शिक्षकों में भी ये बातें कूट-कूटकर भरी रहती थीं, फलतः वे त्याग, आदर्श और निष्ठापूर्वक काम करते थे और उसी काम को अपने जीवन की मूल उपलब्धिमूलक कमाई मानते थे। विद्याभवन को सामरजी ने

कभी पराया नहीं समझा। उसके उन्नयन एवं विकास में उन्होंने अपने जीवन को समर्पित कर दिया और वे एक स्तंभ के रूप में रीढ़ की हड्डी बन गए।

## विद्याभवन कलामंडल के अभिनव प्रयोग :

धीरे-धीरे सामरजी ने विद्याभवन में कई नई प्रवृत्तियाँ प्रारम्भ करदीं। इनमें विशिष्ट सांस्कृतिक अवसरों पर प्रदर्शित नृत्य-नाटिकाएँ मुख्य रूप से उल्लेखनीय कही जा सकती हैं। स्कूल के विद्यार्थियों के साथ इन्होंने इस क्षेत्र में अपने प्रयोग प्रारंभ कर दिए जिसमें सामरजी को आशातीत सफलता मिली। समय-समय पर दिए जाने वाले सीता स्वयंवर, तराना, गवरी, शंकर्या आदि नृत्य-नाटिकाओं के सांस्कृतिक कार्यक्रमों से विद्याभवन की ख्याति को भी बड़ा बल मिला। फलस्वरूप सामरजी ने स्थायी रूप से 'विद्याभवन कलामंडल' नाम से एक सांस्कृतिक मंच ही कायम कर दिया। इस मंच से सामरजी ने कई अभिनव प्रयोग किए। इन प्रयोगों में महात्मा बुद्ध, मर्यादा पुरुषोत्तम राम, महामना महात्मा गांधी, आदिमानव तथा कामायनी पर लिखे उनके पेजेन्ट विशेष चर्चित रहे। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इनमें एक साथ सौ-सौ, डेढ़-डेढ़ सौ पात्र रंगमंच पर काम करते थे। इनके लिए वास्तविक स्थिति के अनेक रंगमंच बनाए जाते थे और ऐसा भान होता था कि जैसे आस-पास का समस्त स्थल ही एक खूबसूरत मंच बन गया है। श्री गोविन्दवल्लभ पंत लिखित वरमाला नाटक जब प्रस्तुत किया गया था तो उसके लिए विद्याभवन का सारा बगीचा ही रंगमंच बना दिया गया था। सामरजी के इस प्रकार के बहुउद्देशीय नाट्य-प्रयोग बड़े प्रख्यात हुए। इनके प्रदर्शन श्री जयप्रकाशनारायण, श्री विजयराघवाचार्य, श्री राजगोपालाचारी, श्री खेर, श्री हृदयनाथ कुंजरू, डॉ० जाकिरहुसैन, पं० जवाहरलाल नेहरू, टी० एस० वासवानी तथा सी० एफ० एण्ड्रूज जैसे बड़े-बड़े जननेताओं के समक्ष भी दिए गए। पं० नेहरू के समक्ष दिया गया एक प्रदर्शन लेखक ने भी देखा था जिसका मनोहारी दृश्य लेखक के हृदयपटल पर आज भी उतने ही सरस एवं सुहावने रूप में अमिट अंकित है।

## साहित्य-सृजन :

सामरजी ने अपना साहित्यिक जीवन भी विद्याभवन में ही प्रारंभ किया। नाट्य-लेखन के साथ-साथ गद्यगीतों की ओर भी उनकी लेखनी ने उच्चस्तरीय साहित्य-सृजन किया। उन दिनों हंस, चाँद, वीणा, कर्मवीर, विशाल भारत, माधुरी, वाणी जैसी उत्कृष्ट साहित्यिक पत्रिकाओं में इनके गद्य-गीत प्रकाशित होने लग गए थे। पाठ्य-पुस्तकों में भी इनके गद्यगीतों को

स्थान दिया जाने लग गया। गद्यकाव्य के उन दिनों के प्रमुख लेखक बाबू रायकृष्णदास, मोहनसिंह सेंगर, दिनेशनन्दिनी चोरड़िया आदि के साथ-साथ सामरजी की गणना भी की जाने लग गई थी।

इनके गद्यगीत प्रायः आध्यात्मिक गद्यगीतों के रूप में शुमार किए जाते थे। उन्हीं दिनों पत्रों में प्रकाशित इनके गद्यगीतों से प्रभावित होकर चित्तौड़ का एक व्यक्ति इनके पास विद्याभवन आया। जब पहली बार सामरजी से उसने भेंट की तो वह उन्हें देखते ही चकित होगया और कहने लगा – 'मुझे विश्वास ही नहीं हो रहा है कि देवीलाल सामर आप हैं। मैं तो सोच रहा था कि आप कोई लम्बी जटा-दाढ़ीवाले संत पुरुष होंगे परन्तु आप तो कोटपैंटधारी अंग्रेजबाबू निकले। सचमुच; आपको देख मैं बड़ा निराशा होगया हूँ' और वह चला गया।

गद्यगीत के साथ-साथ सामरजी ने काव्य-लेखन में भी अच्छी पैठ दिखाई। कई गीत-कविताएँ लिखीं। अच्छे-अच्छे पत्रों में छपीं भी खूब परन्तु इस क्षेत्र में उन्हें अधिक सफलता हाथ नहीं लगी। यहीं सामरजी ने बी. ए. और एम. ए. की परीक्षाएँ भी उत्तीर्ण करलीं।

गद्यगीत तथा कविताओं के साथ-साथ छात्रों की मांग पर सामरजी ने कई एकांकी नाटक भी लिखे जो सफलतापूर्वक कई स्थानों पर मंचित हुए। इनमें से अधिकांश नाटक इनके द्वारा प्रकाशित चंद्रगुप्त, आत्मा की खोज, मृत्यु के उपरान्त, राजस्थान का भीष्म आदि कृतियों में प्रकाशित हो चुके हैं। विद्याभवन के अतिरिक्त अन्य स्कूलों में भी इन नाटकों का कई बार प्रदर्शन हुआ। प्रायः सभी नाटक बालकों की अभिरुचि, आवश्यकता एवं मनोरंजकता को ध्यान में रखकर लिखे गए थे। इनमें से कुछ नाटक आकाशवाणी केन्द्रों से भी प्रसारित हुए। पाठ्य-पुस्तकों में भी ये नाटक विशेष रूप से समादृत रहे। यहीं इन्होंने नारायणप्रसादजी तथा मथुराप्रसादजी से कत्थक की शिक्षा ग्रहण की।

## नृत्यकार उदयशंकर से भेंट :

सन् १९४० में प्रसिद्ध नृत्यकलाकार उदयशंकर उदयपुर के महाराणा श्री भूपालसिंहजी के विशेष निमंत्रण पर अपने नृत्यदल के साथ उदयपुर आये। दरबारहाल में उदयशंकर का प्रदर्शन रखा गया। सामरजी ने भी दर्शक के रूप में यह प्रदर्शन देखा जिससे वे बड़े प्रभावित हुए। प्रदर्शनोपरान्त सामरजी ने उनसे भेंट की और उनके संस्कृतिकेन्द्र अलमोड़ा आने की जिज्ञासा प्रकट की।

श्री उदयशंकर सामरजी से वड़े प्रभावित हुए, मुख्यत: उनके गोरे सुडौल छरहरे अंग से। उन्होंने वहीं सामरजी को अगली गर्मियों की छुट्टियों में अलमोड़ा आने का निमंत्रण दे दिया।

## अलमोड़ा में सामरजी :

ग्रीष्मावकाश होते ही सामरजी अलमोड़ा पहुँचे। प्रथम दिन के अभ्यास में ही सामरजी ने अपनी कला-प्रतिभा से उदयशंकरजी को मोहित कर लिया। वे वहाँ उपस्थित सौ शिक्षार्थियों में सर्वश्रेष्ठ घोषित किए गए। सामरजी की नृत्य की इतनी सुन्दर अदायगी के पीछे विद्याभवन द्वारा की गई वनशालाओं के ग्राम्यजीवन के वे विशुद्ध नृत्य भी रहे हैं जिनका सामरजी ने निकट से अध्ययन-प्रदर्शन किया है। उदयशंकरजी ने सामरजी को प्रशिक्षार्थी के वजाय नृत्यशिक्षकों के साथ रख दिया और उनके लिये लोकनृत्यों की विशेष कक्षा प्रारंभ करदी। इस कक्षा में स्वयं उदयशंकर एवं अमलाशंकर नृत्य सीखने आते थे। यही नहीं, श्रीमती जोहरा सेगल, सिमकी, गांगुली, शान्तिवर्धन, शचिनशंकर, देवेन्द्रशंकर तथा रवीन्द्रशंकर ने भी इस कक्षा का लाभ उठाया।

## कल्पना फिल्म :

अलमोड़ा से उदयपुर लौटे चार महीने भी नहीं बीते कि उदयशंकरजी ने सामरजी को चिट्ठी लिखी जिसमें उनके द्वारा वनाई जा रही कल्पना नामक फिल्म में सामरजी का सहयोग चाहा गया था। यह घटना सामरजी के जीवन को वहुत वडा मोड़ देने वाली थी। सामरजी इसके लिए सहर्ष तैयार होगए। विद्याभवन ने भी उनको जाने की अनुमति देदी। सामरजी अलमोड़ा चले गए। यह फिल्म मद्रास के प्रसिद्ध जेमिनी स्टूडियो ने वनाई थी। सामरजी ने इसमें 'सुन्दर' की महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। इसके लिए अभिनय की शिक्षा सुप्रसिद्ध अभिनेता श्री पार्श्वनाथ अलंटेकर ने दी। सुन्दर के रोल के अतिरिक्त संवाद-लेखन का महत्त्वपूर्ण काम भी किया। इसके लिए सबसे पहले अमृतलाल नागर से संवाद लिखवाए गए। तत्पश्चात् सुमित्रानंदन पंत ने उसमें आंशिक संशोधन-परिवर्धन किया परन्तु पंतजी इस काम को समयाभाव के कारण पूर्ण नहीं कर पाए तव यह सारा काम सामरजी को सौंपा गया। फलस्वरूप पूरी फिल्म के गीत संवादों का पुनर्लेखन किया गया। १९४३ में यह फिल्म पूरी वनकर वाजार में आई।

सामरजी कल्पना में काम करने के वाद पुन: विद्याभवन लौट आए। उनके कल्पना फिल्म के काम की फिल्मजगत् में अच्छी प्रतिक्रिया रही। इससे

उनके लिए फिल्मजगत् का दरवाजा खुल गया। मद्रास के प्रसिद्ध फिल्म निर्माता वासन ने सामरजी को अपने यहाँ निमंत्रित किया परन्तु सामरजी को यह व्यवसाय अधिक रुचिकर नहीं लगा, अतः उन्होंने वासन के निमंत्रण को अस्वीकार कर दिया और अपनी रुचि को नृत्य एवं नृत्य-नाट्यों की ओर ही वनाए रखा और उसी में उत्तरोत्तर विकास करने की अपनी इच्छाओं को वलवती वनाए रखा।

## त्याग और तपस्या से त्यागपत्र :

यह सोच सामरजी ने विद्याभवन में 'विद्याभवन कलामंडल' नामक एक सांस्कृतिक मंच की स्थापना की और अपनी सेवाओं के दायरे को विस्तृत कर दिया। इस मंच से जहाँ सामरजी को अपनी कला-प्रवीणता से पर्याप्त ख्याति मिली वहाँ विद्याभवन के लिए विपुल धनसंग्रह करने में भी यह मंच वरदान सिद्ध हुआ। कलामंडल की वढ़ती हुई प्रवृत्ति और उसकी उपयोगिता को ध्यान में रखकर सामरजी ने इसे स्वतंत्र विभाग का रूप देने का प्रस्ताव रखा। डॉ० कालूलाल श्रीमाली उस समय प्रिंसिपल थे। उन्होंने सामरजी के इस प्रस्ताव को यह कहकर कि — 'इसके माध्यम से सामरजी अपना शौक पूर्ण करते हुए प्रतिभा अर्जित करना चाहते हैं', नामंजूर कर दिया। सामरजी को इस वात पर वड़ा रोष उत्पन्न हुआ। उन्होंने अपनी गम्भीर किन्तु गर्वीली वाणी में केवल यही कहा कि 'जो व्यक्ति गत इक्कीस वर्षों से निःस्वार्थ रूप से विद्याभवन को अपनी मातृसंस्था मानकर अपनी सेवाएँ देता आरहा है और जिसने यह कहा कि मरने पर उसकी कब्र भी यहीं वनेगी उस व्यक्ति के संवंध में यदि इस प्रकार की वात सोची समझी जाती है तो उसका यहाँ रहना कोई अर्थ नहीं रखता' और उन्होंने अपना त्यागपत्र प्रस्तुत कर विद्याभवन छोड़ दिया। सच वात तो यह थी कि विद्याभवन का विशुद्ध शैक्षणिक वातावरण विद्याभवन कलामंडल की वढ़ती हुई प्रवृत्तियों को अपने में नहीं समा सका। यहीं सामरजी को यह अनुभव होगया था कि अव उन्हें स्वतंत्र रूप से कोई देशव्यापी कार्य हाथ में लेना चाहिए। उनके मन में लोककलाओं के उन्नयन एवं उत्थान के लिए किसी वड़े संगठन की स्थापना की वात घर कर गई। वे इस ओर कटिवद्ध हुए। अपनी यह वात उन्होंने जनरल करिअप्पा के समक्ष रखी। उन्होंने इस योजना को न केवल सराहा अपितु सम्वल भी प्रदान किया। उनके मार्गदर्शन में भारतीय लोक कला मंडल की रूपरेखा तैयार की गई और अन्ततोगत्वा २२ फरवरी १९५२ को इसकी विधिवत् स्थापना करदी गई।

## भारतीय लोक कला मंडल की स्थापना :

लोकधर्मी कलाओं के शोध, सर्वेक्षण, प्रदर्शन, प्रकाशन, उन्नयन एवं परिमार्जन के वृहत् उद्देश्य को लेकर कलामंडल की स्थापना की गई। सामरजी अब तक आदर्श शिक्षक के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। अच्छे शिक्षाविद् के साथ-साथ सफल नाटककार, गद्यगीत-लेखक एवं कवि के रूप में भी उन्होंने पर्याप्त ख्याति अर्जित करली थी परन्तु लोककला मंडल की स्थापना के रूप में उनका कला-स्वरूप फिलहाल एक कल्पनामात्र ही लग रहा था। उनकी प्रकाशित कृतियों तथा पत्र-पत्रिकाओं में नियमित रूप से छप रहे गद्यकाव्य एवं कविताओं से उनका साहित्यिक व्यक्तित्व तो पूर्ण निखरित हो चुका था पर एक अच्छे नृत्यकार के रूप में उनका कलाकार अवतक छिपा रुस्तम ही वना हुआ था। यों विद्याभवन कलामंडल के माध्यम से उनका नृत्यकार भी कुछ अंशों में रूपायित हुआ था पर उसका क्षेत्र अत्यन्त सीमित एवं ठहरावा होने के कारण उसका व्यापक एवं ठोस धरातल नहीं वन पाया।

## धुनधनी सामरजी :

कर्मठ, कर्त्तव्यनिष्ठ एवं धुनधनी सामरजी जरा भी विचलित नहीं हुए। वे निरंतर आगे की ओर गतिमान होते रहे। उनके दिमाग में कलामंडल का नक्शा क्लीयर था अतः उन्हें कहीं भी कोई धुंधलाहट महसूस नहीं हुई। कठिनाइयाँ और वाधाएँ तो अवश्य आईं। पग-पग पर उन्हें बोझिलता भी मिली पर इन्होंने हिम्मत नहीं हारी और भूत वनकर अपने स्वप्नों को साकार रूप देने में लग गए। कलामंडल की स्थापना के साथ ही इन्होंने अपनी छोटीसी नृत्यमंडली जुटाई और अखिल भारतीय प्रदर्शन के लिए निकल चले। दिल्ली में राष्ट्रपतिभवन में इन्होंने अपना पहला प्रदर्शन दिया। इस प्रदर्शन में राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद का आशीर्वाद और समाचारपत्रों की भूरि-भूरि प्रशंसा तो खूव मिली पर धनोपार्जन की दृष्टि से यह प्रदर्शन अतीव ठंडा ही रहा। इससे सामरजी को भारी कष्टों का सामना करना पड़ा। समय पर वेतन नहीं चुका पाने के कारण कलाकारों की मनःस्थिति डाँवाडोल होगई। वड़ोदा में कलाकारों ने कलामंडल छोड़ने की धमकी दी। सामरजी के सामने यह जीवन-मरण का प्रश्न था। उन्होंने सोचा — 'कलाकार यदि विखर गये तो उनकी हँसाई होगी, लोग मजाक उड़ाएँगे और वरसों की जमीजमाई प्रतिष्ठा खाक में मिल जायगी।' विपदा की इन घड़ियों में वे तनिक भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने साहस और धैर्य से काम लिया। अपने कलाकार-साथियों को उन्होंने हिम्मत बंधाई और तन्मयतापूर्वक अपने कार्य में जुट गए।

## प्रारंभिक कठिनाइयाँ :

किसी भी अच्छे कार्य को प्रारंभ करने में कठिनाइयाँ आती हैं। यह शुभ लक्षण भी है। इससे उस व्यक्ति की परीक्षा भी हो जाती है कि आगे वह इस कार्य को करने में समर्थ हो सकेगा अथवा नहीं। यदि प्रारंभ में ही वह डांवाडोल हो जाता है तो आगे तक वह अपने काम को सफलतापूर्वक नहीं चला पाता है। कठिनाइयों से उस काम की बुनियाद भी गहरी, गाढ़ी जमती है। सामरजी में बाधाओं को सहन करने की जबर्दस्त शक्ति है, इससे कोई भी बाधा इन्हें बोझ नहीं लगती है। यही इनकी सफलता का बहुत बड़ा राज है। कलामंडल के प्रारंभिक दिनों में इन्होंने क्या नहीं किया ? इसे जमाने एवं सुचारु रूप से संचालित करने में इन्होंने प्रसव-पीड़ा से भी अधिक पीड़ाएँ भोगी हैं। घाणी के बैल की तरह इन्होंने दिन रात की परवाह किए बगैर प्रत्येक काम में अपने को सक्रिय जोता है। घोड़े की तरह काम करते रहने में ही नींद-आराम की झपकी ली है। जुझार की तरह अपने काम में जुटे हैं, भिड़े हैं। सन् १९५६ में बेदला में आयोजित लोककलाकार-शिविर में पूरे दो महीने मैं इनके साथ रहा हूँ। देखता हूँ, चींटी की तरह सामरजी का एक-एक मिनिट सक्रिय है – चिर सक्रिय, जो आज तक कभी स्थाणु नहीं बना।

## कलाकारों के बीच कलाकार :

प्रातः जल्दी उठना, घूमना, व्यायाम करना, कलाकारों के लिए दिनभर का कार्यक्रम तैयार करना, गीत लिखना, ख्यालमंडली को अलग से निर्देश देना, बहुरूपिये का कच्चा प्रदर्शन देखना, रात्रि में दिए जाने वाले सांस्कृतिक कार्यक्रम में जनाना, मरदाना पात्र का चयन करना, उनके लिए आवश्यक संवाद एवं विषय चुनना, कठपुतलीदल के लिए आवश्यक पुतलियाँ बनवाना, प्रातःकालीन बैठक में कलाकारों से मिलना-जुलना, कभी वेशभूषा पर, कभी मुखविन्यास पर तो कभी मंच मुखातिब पर, प्रदर्शनकारी कलाओं के एक-एक पक्ष पर प्रतिदिन कलाकारों के समक्ष भाषण, संस्मरण और हँसी-मजाकभरी घटनाएँ सुनाना, रात को दिए गए प्रदर्शन का आलोड़न-विलोड़न, सुधार के सुझाव, फिर नृत्य, संगीत एवं नाट्य की विविध कक्षाओं के लिए कलाकारों का चयन, प्रदर्शन-प्रशिक्षण विषयक आवश्यक निर्देश। कड़ी महनत, कड़ी देखभाल, पसीने-पसीने कलाकार परन्तु चेहरे पर आनन्द अनुरंजन की एक अभूतपूर्व उपलब्धि। मुझ हलवाहे को भी उन सबके साथ उसी तरह जुतना पड़ता है। बीच में तीनेक घंटे की खाने-पीने और आराम करने की छुट्टी हो जाती है।

## तुलाराम की रोटल्याँ :

हम लोग भोजन करने आते हैं। हमारा भोजनखाना अलग है। कलामंडल का एक कलाकार तुलाराम हमारे साथ है। शिविर में यह कलाकार नृत्यशिक्षक है। हम लोग जल्दी-जल्दी आते हैं। मैं सब्जी के लिए प्याज छीलता हूँ और वह (रोटियाँ नहीं बनाकर) छोटी-छोटी रोटल्याँ ठेकता है। सामरजी आते ही फिर काम में जुट जाते हैं, तब तक डाक आजाती है। आवश्यक चिट्ठियों का जबाव फटाफट उनकी दो उँगलियों से टाइप पर चढ़ जाता है। हम लोग टुकुर-टुकुर उनकी बाट देखते हैं। तुलाराम पुराना कलाकार है अतः कभी-कभी भूख लगने और भोजन करने का संकेत भी दे देता है। सामरजी सारा पेण्डिङ्ग छोड़ हमारे पास आकर बैठ जाते हैं। भोजन शुरू होजाता है।

## खटिया जिन्दाबाद :

भोजन कुछ नहीं है। न मिष्ठान्न है, न चावल, न सब्जी में कोई सब्जी; मगर सामरजी उँगलियाँ चाटते हुए भोजन का जायका लेते हुए उसकी तारीफ के पवाड़े वांध देते हैं – 'क्या भोजन बनाया है। सब्जी तो कमाल है। ऐसा लगता है अपने पूर्वजन्म में तू किसी राजघराने का रसोइया रहा है। कहाँ सीखा रे ऐसा भोजन बनाना ?' और बिना पूछेताछे जेटभरी थाली से हमें रोटल्याँ परोसते जाते हैं। तुलाराम जवान नहीं खोलता है। मैं नया-नया हूँ संकोचवश केवल 'हाँ-हूँ' करके रह जाता हूँ। हम लोग सुस्ताने लग जाते हैं। मगर सामरजी अपने कमरे में पसीना-पसीना हो रहे हैं। न पंखा है, न पंखी, न टेवुल-कुर्सी। केवल उनकी खटिया जिन्दाबाद।

## टोलकी और कठपुतली ढोलकी :

यह एक आदमी कई आदमियों का काम करता है और कई आदमियों को काम पे लगाता है। इसके मन पर कोई नाराजगी और मस्तक पर कोई सलवट नहीं है। साठ वर्ष का नगजी खिलाड़ी सामरजी का प्रताप पाकर जैसे जवान वन गया है। उसकी सठियाई कला और सठियाया बुढ़ापा जोवन से भर आया है। कलाकारों में सर्वश्रेष्ठ घोपित किया जाने वाला परसराम वहुरूपिया जैसे नया जलम पा गया है। उसकी कला की इतनी मँजाई हुई है कि उसमें हीरे-मोती निकल आये हैं। चार चाँद की वजाय चालीस चाँद लग गये हैं। रामलीला में घसीटा जाने वाला छोकड़ा शंकर्या यहाँ आकर शंकरलाल वन गया है और टोलकी की कठपुतली ढोलकी एक थाप में ही अमरसिंह राठौड़ की निर्जीव पुतलियों में जान झंकृत करने लग गई है।

### तीखी मूँछोंवाला शोभाराम :

लोकगीतगायक शोभाराम भजन की क्लास लेरहा है। मंजीरावादन में लोग मशगूल हैं। आवे लोगों की आँखें बन्द की हुई भजनभाव में लीन हैं। भजन चल रहा है–

थारी मोह माया ने त्याग क्रोध ने तज रे
थारो जोवन बीत्यो जाय हरि ने भज रे

एक भजन के वाद दूसरा भजन –

झूठा बोल्या थारो कई पतियारो रे
मन रा लोभी थारो कई तो भरोसो रे......

भजन चल रहा है। बीच भजन में कभी-कभी शोभाराम अपनी पतली तीखी मूँछों पर वट लगा देता है और फिर हारमोनियम पकड़ लेता है। सामरजी चुपचाप आकर चुपचाप देख जाते हैं। किसी को पता नहीं है। तीसरा भजन प्रारंभ हो गया है–

जोवन धन पामणा दिन चारां
यांरो गरब करे सो गँवारा
जोवन धन पामणा दिन चारां......

दूसरे दिन प्रात:कालीन बैठक जुड़ती है। सामरजी प्रवचन देते हैं। विषय है–सच्चा कलाकार कौन ? 'जिसके पास कला की साधना है। कला की गहरी पैनी दृष्टि और सूझबूझ है वही सच्चा कलाकार है। वाल बढ़ाने, नाखून के पोलिश करने तथा आँखों-हाथों में काजल-मेहँदी लगाने या लम्बी-लम्बी मूँछों पर वट लगाने से कोई बड़ा कलाकार नहीं बन सकता।' मूँछों पर वट लगाने की बात आते ही शोभाराम का मुँह नीचा हो जाता है। सभी कलाकारों की निगाहें शोभाराम की मूँछों पर जा टिकती हैं। रात्रि को चुपचाप शोभाराम मेरे पास आता है और दबी भारी जवान से कहता है – 'एक अरज है हुकुम; मन्नै तनखा का पाँच रुपिया कम आलिया जावे भलेई पर म्हारी 'इन्सलैंट' न्हीं वै तो ठीक रैवे।' अन्दर के कमरे में (कमरे के अन्दर कमरा था) सामरजी चुपचाप यह बात सुन रहे हैं। उसे पता नहीं था कि साहब अन्दर विराजे हुए हैं। सामरजी ने शोभाराम को आवाज दी – 'शोभाराम, इधर आओ।' उसे अपने पास खटिया पर बिठाया और बड़े स्नेह भरे स्वर में कहा – 'सुबै जो लेक्चर दिया गया था वह किसी कलाकार को लेकर थोड़े ही दिया गया था। यदि ऐसा होता तो लालूराम मेरे पास आता, उसे भी बुरा लगता। वह भी तो अपने नाखूनों पर

पोलिश थेपड़ता है (एक्टिंग के साथ)। देवीलाल सरगड़ा मेहँदी से कितने अच्छे हाथ रचाता है, वह तो नहीं आया मेरे पास। मेरी बात पर उसे तो मजा आरहा था और अमीरखाँ तुम्हारे सामने प्रतिदिन काजल के कोये निकाल-कर आता है। ये सारी बातें थीं तो जनरल मगर ऐसा सिणगार और ऐसी तड़क-भड़क भी किस काम की जो अपनी कला में बाधक बने ? कल तुम भजन सिखा रहे थे। सब लोग तो बिचारे बड़ी लगन से भजन गाने में मशगूल थे और तुम जनाब अपनी मूँछों के बट लगाकर उन्हें तीखी तोखी बना रहे थे। इस काम के लिए तुम्हें वहीं समय मिला और मूँछों से तुम्हारा दुबला-पतला चेहरा क्या और सुन्दर लगता है ? मूँछें नहीं रखवाने से कौनसे जनाने हो जाओगे यार, (हँसतेहुए) हम सब लोग जो दाढ़ी-मूँछें नहीं रखते हैं क्या जनाने हैं ? मरदाने सरदार केवल आप ही हैं ?' सामरजी खिलखिला पड़ते हैं और उसे दूसरी बातों की तरफ ले जाते हैं। 'कल तेरा रेकार्डिंग अच्छा हुआ, राजेन्द्रबाबू कह रहे थे। क्या था रे वो गीत ? गा दिकें मुझे भी तो सुनाव' और शोभाराम बड़ी मस्ती से गाने लग जाता है –

म्हारा मोत्याँवाला जी ओ धरण ने रंगाय दीजो पोमचियो
म्हारा मांणीगर गोरी ने रंगाय दीजो पोमचियो

'बहुत अच्छा शाबाश ! क्या कण्ठ दिया है भगवान ने तुमको। कल रेडियोवाले भी अपने यहाँ आवेंगे। उनको कहकर तेरा गीत भरवाऊंगा। जा अब सोजा। सुबै जल्दी उठना है।'

शोभाराम चुपचाप बाहर निकल आता है। मैं देख रहा हूँ उसकी प्रफुल्लित मूँछें, फलाफूला मन, लगता है पाँच रुपए कम होने की बजाय जैसे पचास और बढ़ा दिए गए हैं।

### कलामंडल – जिम्मेदारियों का विस्तार :

सामरजी कलामंडल को अपने बच्चे की तरह पाल रहे हैं, बढ़ा रहे हैं। धीरे-धीरे लोगों की भी इसमें रुचि जागृत होने लग गई है। राज्य सरकार ने अनुदान प्रारंभ कर दिया है तो इधर आर्थिक जिम्मेदारियाँ भी बढ़ गई हैं। प्रदर्शन विभाग के साथ-साथ अब लोककलाओं का शोध, सर्वेक्षण भी प्रारंभ होगया है। रेकार्डिंग मशीन, टेप्स, केमरे और कार्यकर्त्ता सब एक जीवट से अपने-अपने कामों में लगे हुए हैं।

## दिन को तन और रात को मन-मस्तिष्क :

सामरजी का एक-एक क्षण गूँथ गया है। प्रदर्शन विभाग में हर नृत्य-नाट्य में उनका रोल, निर्देशन, लेखन सब कुछ। ढोलामारू, गंगापार, पणिहारी, कीर, कंजर, शंकरया, पीपली सबकी रिहर्सल। दिनभर मंजाई, घिसाई, घुटाई और उस पर उनकी एक टांग शोध – खोज में भी लगी है। फील्ड से जाकर दुनियाँभर की सामग्री एकत्र कर लाए हैं। गींडाराम वर्मा उसे काट-छांट रहे हैं। सामरजी दिन को तन और रात को मन-मस्तिष्क लिए बैठते हैं। कलम चलती रहती है। तरतीववार, पुस्तकाकार बहुत कुछ लिख डाला है। गींडारामजी उसे सुथरा-पुथराकर जयपुर भेज देते हैं। पुरुषोत्तम मेनारिया वहीं हैं। वड़ावड़ उसे छापने को दे देते हैं और कुछ ही दिनों में जयपुर प्रिण्टर्स से राजस्थान का लोकसंगीत, राजस्थानी लोकनृत्य, राजस्थानी लोक-नाट्य, राजस्थान के लोकानुरंजन और राजस्थान के लोकोत्सव एक-एककर कितावें छपकर आ जाती हैं। तवीयत खुश हो जाती है। गींडारामजी उन प्यारी मनोहारी पुस्तकों को वार-वार खोलते-वन्द करते थकते नहीं हैं और अपने आगे के काम में खो जाते हैं।

## ठंडे दिन फिरे :

सामरजी के अव वैसे दिन नहीं रहे हैं। ठंडे दिन फिरे हैं। कलामंडल की अपनी गगनचुम्वी कलात्मक इमारत भी खड़ी हो गई है। गोविंदजी ने कठपुतलियों का काम भी शुरू कर दिया है। नारायण गंधर्व गीतों की स्वर-लिपियाँ वना रहे हैं। जानकीवाई गीतों को स्वर दे रही है। नारायणीवाई रेकार्डिंग करवा रही है। गिरवारी नक्काड़े गरमा रहा है। कम्माखाँ उस्ताद अपनी रंगीपंगी सारंगी पर घाटावेनाड़ा की गंगली को नचा रहे हैं। मीरा की भूमिका में शकुन्तला भावविह्वल हो जाती है, खो जाती है। उसके नख-शिख में साक्षात् मीरा आ समाई है। भारत सरकार ने भी यहाँ के काम को वेहद सराहा है। कठपुतलियों के समारोहों ने देश में एक नई हलचल मचा दी है। निर्जीव और निष्प्राण होती हुई इस कला में फिर चेतना आगई है।

## सरकार और सर्वेक्षण :

भारत सरकार (गृह मंत्रालय) ने मध्यप्रदेश के आदिवासियों का सर्वेक्षण-प्रोजेक्ट दिया है। आदिवासी रंगीनियों की डोक्युमेंटरी फिलम भी वनानी है। सामरजी, गोविंदजी, राजेन्द्रवावू और दो-एक और......पूरा युनिट चल पड़ा

है। मध्यप्रदेश के माडिया, मुडिया, डोरला, वेगा, कुरवा, पाँडव, कौड़ाकू, कंवर, औरांव, गौंड़, नगेशिया और जितनी भी आदिवासी जातियाँ हैं उनका अध्ययन किया है। उनके तौर-तरीकों को निकट से देखा-परखा है। उनके बीच गाया, बैठा और नाचा गया है। एक अच्छी भरीपूरी रिपोर्ट एवं फिल्म सरकार को भेजी गई है। सरकार ने सामरजी के इस सारे काम को भली प्रकार देखा, समझा और सराहना की है और इसी वलबूते पर राजस्थान, मणिपुर तथा त्रिपुरा का सर्वेक्षण-कार्य भी उन्हें और मिल गया है। मणिपुर, त्रिपुरा के सर्वे में तो मैं भी था। एक सुनील कोठारी और राजेन्द्रबाबू....... गोविंदजी...... एक दो और। मणिपुर के इम्फाल, टेंग्नोपाल, चूराचाँदपुर, जीरीबाम, तामांगलोंग, माओ, उखरूल आदि क्षेत्र छान मारे और त्रिपुरी, रियांग, नोअटिया, हालाम, जामाटिया, गारो, लुशाई, कूकी,...... कोई आदिवासी नहीं छोड़े। इनके साथ वहुत गाया, नाचा, पीया, जीया।

## लोककला संग्रहालय :

सन् १९५६ में अंकुरित किया गया कलामंडल का संग्रहालय आज अन्तर्राष्ट्रीय लोककला एवं लोकसांस्कृतिक धरोहर का अद्भुतालय वना हुआ है। लोकरंगमंचीय विधाएँ, लोकवाद्य, लोकप्रतिमाएँ, आदिवासी संस्कृति के विविध रूप, भित्तिचित्र, भूमिअलंकरण, पटचित्र, वेशभूषा, कठपुतलियाँ, मांडनें आदि का अभूतपूर्व संग्रह......देश-विदेश के पर्यटकों तथा अनुसंधित्सुओं का आकर्षण केन्द्र बन गया है। भारतीय लोककलाओं का अन्वीक्षक मासिक 'रंगायन' और लोकधर्मी प्रदर्शनकारी कलाओं की अर्द्धवार्षिकी 'लोककला' पत्रिका.......और ढेरसारे प्रकाशन – लोककला निवंधावली, राजस्थान के रावल, राजस्थान के भवाई, राजस्थान के तुर्राकलंगी, राजस्थानी लोकगाथाएँ, राजस्थान स्वरलहरी, रामदला की पड़, भारतीय लोकनृत्य, लोकधर्मी प्रदर्शनकारी कलाएँ, मेवाड़ के रासधारी, लोकदेवता तेजाजी, लोकनाटच गवरी... । सामरजी ने खोजविभाग को अब काफी विस्तार दे दिया है। राजस्थान की लोकवर्मी कलाओं का 'मेन-टू-मेन और इंच-टू-इंच' सर्वे प्रारंभ करवा दिया है। सामरजी के सुयोग्य निर्देशन में उनके होशियार कार्यकर्त्ता-साथी कंधे से कंधा भिड़ाकर लगे हुए हैं। डॉ० महेन्द्र भानावत शोध-सर्वेक्षण और प्रकाशन में पूरे दायित्व के साथ दत्तचित्त हैं। अनुसंधित्सु भी अव काफी आने लग गए हैं। यहाँ उनके लिए अच्छी व्यवस्था है। सामरजी उनके साथ घंटों बैठ जाते हैं। कभी चाय पर, कभी भोजन पर, कभी प्रदर्शनकक्ष में, कभी कठपुतली प्रेक्षालय में, कभी रेकार्डिंग

में तो कभी स्वयं के दफ्तर में। सामरजी का व्यक्तित्व एकांगी और एकपक्षीय नहीं है। जहाँ वह थ्योरी की बात करता है वहीं तत्काल ही प्रेक्टीकल से साक्षात्कार करा देता है। यहाँ आने पर किसी की कोई भूख नहीं रह जाती है। जो भी आता है उनसे पूरा समाधान पाकर ही जाता है।

देश के ही नहीं, विदेश के भी काफी लोग आते हैं। पेरिस से जेक्विस नीचेट, हंगरी से रोडेल्फ वीग, जेकोस्लोवाकिया से श्रीमती जरीना, केलिफोर्निया से हरिहर राव, लंदन से फर्ली रीचमंड सामरजी से अपने विषय का प्रतिपादन पाकर खुश होते हैं और उन्हें बहुत सारी नई अनसुनी, अनदेखी, अनजानी चीजें देखने, सुनने और समझने को मिलती हैं। सामरजी के कामकाज को देखकर उनकी आँखें खुल जाती हैं। सहसा ही सामरजी की भेंट उनके लिए अविस्मरणीय बन जाती है।

## कलातीर्थ कलामंडल :

सामरजी ने अपने कलामंडल को भारत का कलातीर्थ बना दिया है। जो भी उदयपुर आता है इसे देखे बिना नहीं जाता है। यह कलामंडल सामरजी का जीताजागता कृतित्व है, उनकी आत्मा का चैतन्य है। उनकी अन्तस् की एक-एक स्फुलिंग-किरण इसके कण-कण में आभा का उन्माद भर रही हैं। बड़ी-बड़ी विभूतियाँ आती हैं। इनके काम को देखकर चकित हो जाती हैं। काका कालेलकर ने 'भारत में तो क्या परदेश में भी ऐसा स्थान नहीं देखा है।' पृथ्वीराज कपूर 'कितना काम किया है सामरजी ने, वाह वाह वाह' कहकर फूले नहीं समाते हैं। विजयलक्ष्मी पंडित को 'प्रशंसा के लिए शब्द भी नहीं मिल रहे हैं।' वेरियर एलविन 'यहाँ आकर अपने स्वप्नों से साक्षात्कार' करते हैं। जनरल करिअप्पा अपने पुराने मित्र की इन उपलब्धियों को गर्वभरी नजरों से देखते हैं। और डॉ० सत्येन्द्र इसे आश्चर्यजनक कला-प्रतिभाओं का एक ऐसा संगम मानते हैं जहाँ लोककला को नवीन पुनरुज्जीवन ही नहीं दिया जा रहा है वरन् नए क्षेत्रों से नई सामग्री को लोककला के नव्य-भव्य प्राणों से अन्वित भी किया जा रहा है।

## गोविंद का प्रवेश :

निःसंतान सामरजी के लिए गोविन्द एक वरदपुत्र के रूप में स्वीकार किए गये। सामरजी जब विद्याभवन में सहायक प्रधानाध्यापक थे तब बारह-वर्षीय गोविन्द विद्याभ्यास के लिए यहाँ दाखिला लेने आए थे। उन दिनों छात्रा-वास भी सामरजी ही चलाते थे। प्रकृति से गोविन्द चंचल, छरहरे, छबीले

और मस्त तबीयत के थे। उनमें अच्छी प्रतिभा भी थी पर उचित मार्गदर्शन के अभाव में उसका स्थान उद्दंडता ने ले लिया था। अतः घरवालों के लिए वे समस्या बन गये थे। आरंभ में विद्याभवन में भी वे एक समस्याबालक ही सिद्ध हुए पर धीरे-धीरे जब सामरजी ने, उन्हें अपने साथ पास रखकर पुत्रवत् स्नेह-संरक्षण देना प्रारंभ कर दिया तो उनके संस्कार सद्वृत्तियों की ओर उन्मुख होने लगे। उनका ध्यान संगीत, नृत्य एवं रंगमंच की ओर आकृष्ट किया गया। फल यह हुआ कि उनकी गणना अच्छे कलाकार के रूप में होने लगी। पर पढ़ाई से वे जी चुराने लग गए। जैसे तैसे उन्होंने पंजाब की मेट्रिक परीक्षा पास की।

सन् १९५२ में सामरजी ने विद्याभवन छोड़कर स्वतंत्र रूप से भारतीय लोक कला मंडल नामक अपनी निजी कलासंस्था स्थापित करदी। गोविन्दजी भी सामरजी के साथ इधर आगये। यहाँ सामरजी को गोविन्दजी की प्रतिभा का सही उपयोग करने का अच्छा अवसर हाथ लग गया। उन्होंने कलामंडल में बारह रुपए के बोक्स केमरे से उनसे फोटोग्राफी का कार्य प्रारंभ करवा दिया।

अपने प्रगाढ़ प्रेम, धुनधनी, कर्त्तव्यनिष्ठा एवं सामाजिक सहकार संस्कारों से मंडित गोविन्दजी जहाँ सामर-परिवार के लिए एक होनहार आदर्श अंग बने वहाँ कलामंडल के लिए भी वे एक सुदृढ़ भित्ति-संबल के रूप में ख्यात हुए।

## फोटोग्राफर गोविंद :

अपनी प्रतिभा के बल पर गोविन्दजी फोटोग्राफी के साधारण, अति-साधारण स्तर से उठकर उदयपुर के बहुचर्चित फोटोग्राफर के रूप में चमत्कृत होने लगे। इसी बीच डॉ० वी० वी केसकर की प्रेरणा-कृपा से गोविन्दजी को बम्बई के फिल्म्स् डिवीजन में चलचित्र फोटोग्राफी के प्रशिक्षण का सुअवसर भी प्राप्त हुआ। यहाँ से अपने प्रशिक्षण में पूर्ण दक्षता प्राप्त कर गोविन्दजी जब कलामंडल लौटे तो भारत सरकार से मध्यप्रदेश, राजस्थान तथा मणिपुर त्रिपुरा राज्यों की आदिमजातियों के सांस्कृतिक पक्षों की रंगीन डोक्युमेण्टरी फिल्म्स् बनाने का असाइन्मेण्ट प्राप्त किया जिसे गोविन्दजी ने बड़ी सफलता और संजीदगी के साथ पूर्ण किया।

गोविन्दजी की बहुमुखी प्रतिभा केवल यहीं तक सीमित नहीं रही। सामरजी ने भारत में पहली बार जब कठपुतलियों का अखिल भारतीय समारोह आयोजित किया तो उसमें भी गोविन्दजी की प्रखर प्रतिभा-कला के दर्शन हुए।

## ज्ञानपिपासु गोविन्दजी :

सामरजी के बुखारेस्ट में होने वाले द्वितीय अंतर्राष्ट्रीय कठपुतली समारोह में भारतीय प्रतिनिधित्व करने के पश्चात् जब उन्होंने यह अनुभव किया कि भारतीय कठपुतलियाँ विश्व-कठपुतलियों के समक्ष तभी खड़ी रह सकती हैं जबकि कठपुतली विषयक आधुनिक तंत्र कला का वैज्ञानिक अध्ययन हो। इसलिए उन्होंने यह महसूस किया कि गोविन्दजी को इसके विशेष प्रशिक्षण के लिए जेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राग, जो इस प्रशिक्षण का विश्वप्रसिद्ध केन्द्र माना जाता है, भेजना चाहिए। ज्ञानपिपासु गोविन्दजी को इसके लिए तैयार होने में तनिक भी समय नहीं लगा। प्राग में उन्होंने कठपुतलियों के विशेष प्रशिक्षण के साथ-साथ रंगमंचीय टेक्नोलोजी, म्युजियमोलोजी आदि में भी प्रवीणता प्राप्त की। उनके इस प्रशिक्षण ने कलामंडल के उत्कर्ष में बड़ा योग दिया। प्राग से लौटकर कठपुतलियों की रामायण तथा सर्कस नामक दो अद्वितीय कृतियाँ तैयार कीं जो द्वितीय अखिल भारतीय कठपुतली समारोह में सर्वश्रेष्ठ घोषित हुईं।

म्युजियमोलोजी के प्रशिक्षण का भी उन्होंने कलामंडल के लोककला संग्रहालय में बहुत ही सधे-सुथरे ढंग से उपयोग किया। इस संग्रहालय में संगृहीत प्रत्येक मुँहबोलती कला-धरोहर अपने में गोविन्द का साक्षात्कार लगती है। यही नहीं, कलामंडल के कठपुतली वर्कशाप, कठपुतली थियेटर एवं कठपुतली प्रशिक्षण-कार्य में भी उनकी अपार देन एवं अमिट छाप रही है।

## कठपुतलीकार गोविंदजी :

बुखारेस्ट में होने वाले तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय कठपुतली समारोह में भारतीय प्रतिनिधित्व कलामंडल के ही दल ने किया। श्री गोविन्द इस दल के नेता थे और सामरजी निर्देशक। सम्मेलन में केवल चार कलाकारों के इस छोटे से दल ने परम्परागत पुतली-प्रदर्शन का प्रथम पुरस्कार प्राप्तकर एक अनहोना आश्चर्य पैदा किया। इससे जहाँ भारत को पुतलीकला में सबसे पिछड़ा हुआ समझा जाता था वहीं वह अचानक सारे विश्व की आँखों में कठपुतलियों के सर्वश्रेष्ठ मुल्क के रूप में समाविष्ट होगया। सामरजी के पीठ-बल में इसका समस्त श्रेय गोविंदजी को मिला। यह एक ऐसी घटना थी जिससे गोविन्द और सामरजी के साथ-साथ विश्व-क्षितिज में कलामंडल का सितारा रोशन होगया।

कठपुतली-सर्कस का समस्त कला-तंत्र कठपुतलियों के निर्माण में है। श्री गोविन्द की प्रतिभा इसमें सर्वाधिक चमत्कृत हुई। एक बहुत अच्छे यांत्रिक एवं
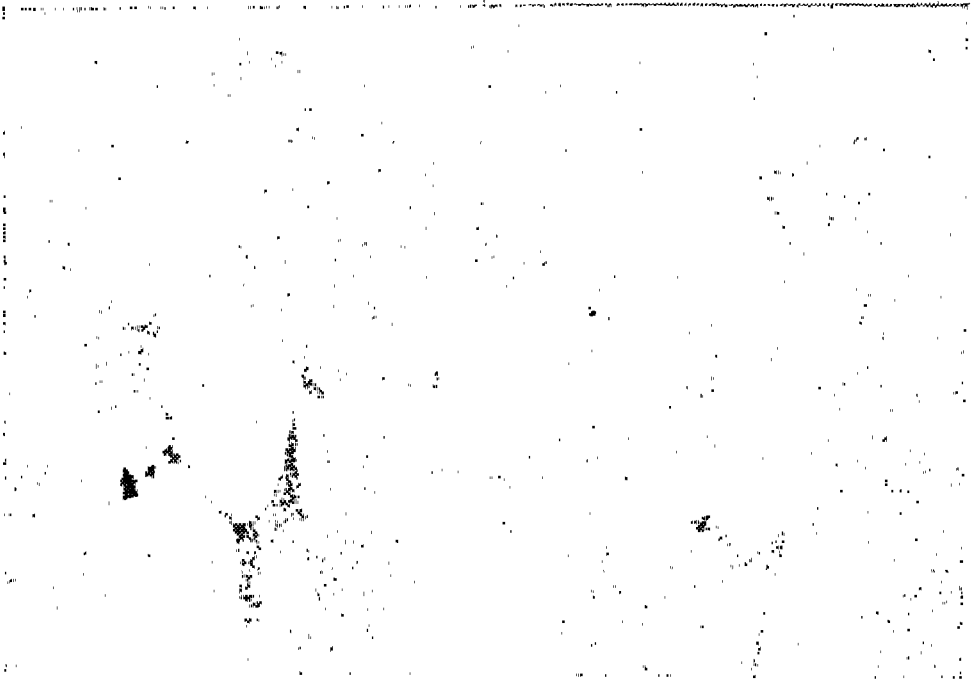
सामरजी : लंदन के सुप्रसिद्ध कलाकार श्री एलन तथा
अपने भवाई-नर्तक दयाराम के साथ [१९६५]

कलामंडल संग्रहालय में भारत के गृहमंत्री श्री चह्वाण तथा राजस्थान के
मुख्यमंत्री श्री सुखाड़िया के साथ सामरजी [१९६७]
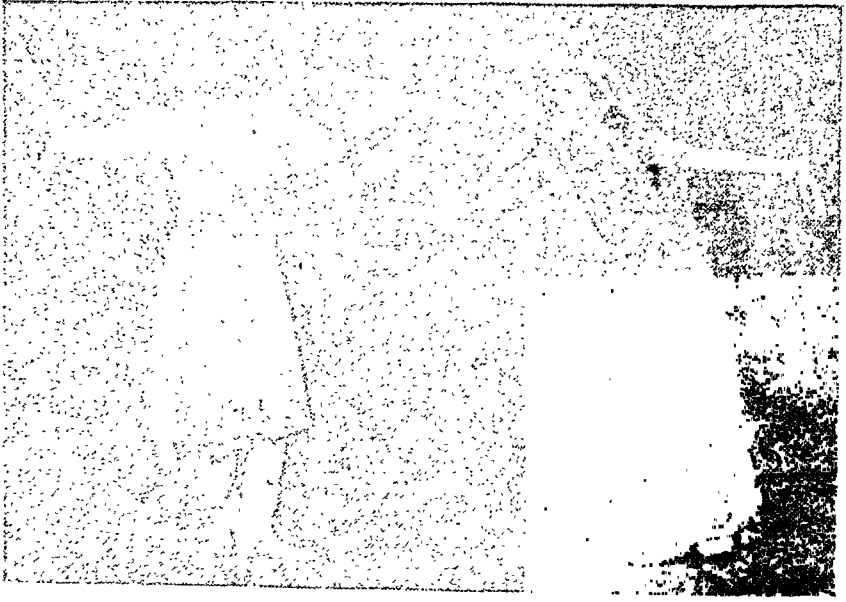
सामरजी : 'ढोलामारू' में ढोला की भूमिका में [१६५२]
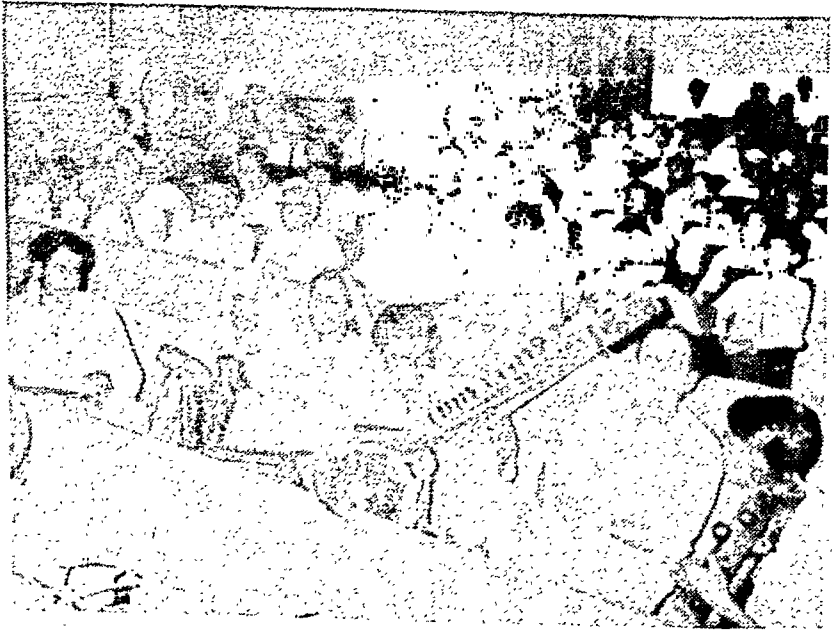
सामरजी : अपने वादक कलाकारों के साथ मजीरावादन में [१६६७]

प्रतिभासम्पन्न कठपुतलीकार होने के नाते पुतलियों के अंगों से चमत्कारिक क्रियाएँ उद्भूत करने की कला में वे अद्भुत थे। कठपुतली-सर्कस की प्राय: सभी पुतलियाँ उन्हींके दिमाग की उपज हैं। वर्षभर प्राग में कठपुतली प्रशिक्षण प्राप्त करने के बाद वे नवीन-नवीन कल्पनाओं को कठपुतली पर उतारने में व्यस्त रहे। सर्कस के क्रियाकलापों को गहराई से विश्लेषित करने में उन्हें कई रातों तक अपनी नींद तक को हराम करनी पड़ी। अन्त में तीन-चार वर्ष के कठिन परिश्रम से वे समस्त सर्कस को कठपुतली में उतारने में सफल हुए। सर्कस के शेर, चीते, साइकिल के करतब, झूले के करतब, हाथियों एवं बन्दरों के करतब तथा शरीर के विविध क्रियाकलापों को कठपुतली-सर्कस की परिधि में लाने का समस्त श्रेय उन्हींको है।

## गोविंद – अंतिम घड़ी :

कौन जानता था कि सामरजी के दत्तकपुत्र गोविन्दजी का यह उत्कर्ष उनकी अन्तिम लौ होगी ? विदेश से लौटने के बाद लगभग चार महीने तक वे रुग्णशैया पर रहे और अन्त में २४ मई १९६७ को सामरजी का यह सर्वस्व, कलामंडल का उत्कर्ष सदा-सदा के लिए हम सबकी आँखों से ओझल होगया।

## गोविंद – जैसा मैंने देखा :

जयपुर में मैंने उनकी आकस्मिक मृत्यु के समाचार जब पत्रों में पढ़े तो मेरी आँखों के आगे एक घना कुहरा छागया। मुझे ऐसा अहसास होरहा था कि जैसे मैं किसी अनिष्टकारी स्वप्नरात्रि में यह सारी कालिमा देख रहा हूँ। समाचारपत्रों से आँखें बुरी तरह रपट रही हैं। एक भी अक्षर पढ़ने में नहीं आ रहा है। विश्वास की एक भी परत हाथ नहीं लग रही है। केवल बत्तीस वर्ष की आयु। जीवन जीने की शुरूआत की यह उम्र मरने की कदापि नहीं हो सकती।

केवल बत्तीस वर्ष जीकर गोविन्दजी ने जैसे सैकड़ों वर्ष की पट्टी नापली। सार्वजनिक क्षेत्र में भी उनकी अच्छी पहल एवं पहुँच थी। उनके व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता थी कि एक बार जो भी उनके सम्पर्क में आजाता वह सदा के लिए उनका होजाता था।

उनकी बेमानी मृत्यु पर उन दिनों धर्मयुग आदि पत्रों में मैंने लिखा था— 'कलामंडल के प्रारंभ से लेकर उत्कर्ष तक वे आत्मीय रहे। उनकी आत्मा का चिन्मय प्रकाश कलामंडल में संगृहीत प्रत्येक वस्तु में देखने को मिलेगा। वस्तुत:

वे कलामंडल के कीर्ति-शिखर थे। साहित्य, संस्कृति और कला की अन्तश्चेतना उनमें कूट-कूटकर भरी थी।'......और अन्त में यह लिखकर मैंने अपनी व्यथा को हल्की की – 'वह सम्मोहक व्यक्तित्व जो अनायास ही किसी को अपनी ओर आकर्षित कर लेता था, वह जादुई मुस्कान जो जड़ में चैतन्य की आभा लुटाती थी, वह कर्मशील, कर्तव्यनिष्ठचेतना स्फूर्ति जिसके चरणों में पहल विछाती थी, अव कहाँ देखने को मिलेगा ?'

## गोविंद और सामरजी का अन्तर्मन :

गोविन्द चले गये सामरजी को एक घनीभूत पीड़ा, तड़फ और उत्पीड़न देकर। इस उत्पीड़न ने उनके अन्तर्मन को फूट-फूटकर इतना अधिक रुलाया कि उनका सरस और सुकुमार हृदय द्रवीभूत हो उठा। फलतः सत्ताइस वर्ष से विलुप्त हुई काव्यधारा 'अन्तर्मन' के रूप में पुनः उन्हें स्वप्नवत् प्राप्त हुई और स्वप्न की ही तरह लुप्त होजाने पर उन्हें झकझोर गई।

अपने पुत्र-वियोग में लिखीगई लेखक की यह कृति (अन्तर्मन) गद्यकाव्य की एक उत्कृष्ट कृति वन गई जिसकी प्रत्येक पंक्ति और प्रत्येक शब्द में सामरजी के संतप्त हृदय का प्रतिविंव झलकता-झाँकता हुआ दृष्टिगत होता है। उदाहरण द्रष्टव्य है–

'तुम्हारे अवसान ने मेरी जिन्दगी की दिशा वदल दी है। मिलन के समय मैंने सृष्टि से समस्त सौन्दर्य को चुनौती दी थी और अपना समस्त वैभव तुम्हें सौंप दिया था। जिधर तुम्हारी दृष्टि फिरती थी, विश्व-वाटिका की समस्त सिमटीहुई कलियाँ खिल उठती थीं, तुम्हारे सौकुमार्य से मादकता लेकर अपने सौरभ का सृजन करती थीं। जिधर तुम घूमते थे उधर उनकी चितवन टिक जाती थी। तुम्हारी मुस्कान देख वे मुस्काती थीं और तुम्हारी उदासी के साथ वे भी मुर्झा जाती थीं।

तुम्हारा यह जादुई असर देखने को जव मैं छाती फुलाकर निकल जाता था तो संसार की समस्त उँगलियाँ मुझे इंगित करके कहती थीं– यह वह सूर्य है जिसके प्रकाश से चाँद चमकता है और तारे अपना सौन्दर्य प्राप्त करते हैं। यह वह प्रकाश है जो घने अंधकार को पीगया है और असंख्य दीपों को ज्योति देकर स्वयं अंधकार वनगया है।' (अन्तर्मन, पृष्ठ ४, ५)

सामरजी के अन्तर्मन का यह मृदुल, मधुर एवं तलस्पर्शी सम्मोहन अपने आप में एक निर्मल दर्पण है जो पिता-पुत्र के प्रगाढ़ स्नेह का दिव्य आदर्श

स्थापित करता है। उनके इस अन्तर्मन पर एक कवि ने कितनी मर्मभरी बात कही है –

योगि-सति-मति साधु संन्यासी के जंतर मंतर तंतर पेखे।
वेद-पुरान-कुरान पढ़े पर अन्त न अन्तर को अवरेखे॥
अन्तर अन्तर में नहिं अन्तर अन्तर अन्तर सा परिलेखे।
अन्तर वेदना भेदना चाहे जो सामर का मन अन्तर देखे॥
मैंने सूँघे 'सुमन' के शुभ्र वेदि के फूल।
सामर अन्तर सुमन की है सुगन्ध अनुकूल॥
फूल खिला किस वृक्ष के ऊपर स्वान्त कहो किसका हरषाया।
ज्योतित कोटि सितारे रवि मंडल निश्चल निश्चल ही पद पाया॥
गायक तो 'जगदीश' घने जग गोविन्द का गुरणगान न गाया।
वेद हकीम तबीब अनेक पैं सामर-खेद का भेद न पाया॥

–कविभूषण जगदीश

## गोविंद कठपुतली प्रशिक्षरण केन्द्र :

उनकी स्मृति में कलामंडल में उनके नाम से गोविन्द कठपुतली प्रशिक्षरण केन्द्र की स्थापना की गई तथा उनकी प्रथम बरसी पर 'गोविन्द स्मारिका' का प्रकाशन किया गया। कठपुतली प्रशिक्षरण केन्द्र अपने प्रकार का पहला केन्द्र है जहाँ देश-विदेश के कलाकार, छात्र, अध्यापक, अध्यापिकाएँ कठपुतलियाँ सीखने आते हैं।

इस केन्द्र के दो विशिष्ट विभाग हैं। पहला शैक्षरिणक पुतलियों का तथा दूसरा व्यावसायिक कठपुतलियों का। शैक्षरिणक कठपुतलियों के अन्तर्गत पुतली-निर्मारण, संचालन, प्रदर्शन एवं नाटयलेखन-पक्ष पर विविध उम्र के बालकों को प्रशिक्षरण दिया जाता है। साथ ही पुतली-निर्मारण की प्रक्रिया में दस्तकारी, रंगाई, सिलाई के अतिरिक्त पुतलियों के विविध चेहरे बनाने एवं नाटयसृजन के माध्यम से बालकों की मनोवैज्ञानिक समस्याओं के निराकरण का हल भी ढूँढ़ा जाता है। इससे उनका भाषा, साहित्य, संगीत तथा अभिनय-ज्ञान भी विकसित होता है। अपने सहयोगियों के माध्यम से यहाँ सामरजी ने एक ऐसा तंत्र सृजित किया है जिसके आकर्षरणस्वरूप बच्चे स्वतः ही प्रशिक्षरण के लिए खिंचे चले आते हैं।

व्यावसायिक स्तर की पुतलियों के प्रशिक्षरण के लिए भी इस केन्द्र में पर्याप्त सुविधाएँ हैं। कठपुतली-निर्मारण एवं पुतली-नाटच-तत्त्वों की समस्त

बारीकियों की जानकारी के साथ-साथ स्वयं प्रशिक्षार्थियों से कठपुतली नाटिकाएँ लिखवाई जाती हैं और उन्हीं से ये नाटिकाएँ मंचाई भी जाती हैं। इस केन्द्र में अबतक लगभग एकसौ पचास प्रशिक्षार्थी प्रशिक्षित किए जा चुके हैं।

## सामरजी – दर्शकों और प्रदर्शकों के बीच :

सामरजी के प्रदर्शन देश-विदेश में बहुत ख्याति अर्जित कर चुके हैं। भारत का तो शायद ही कोई कोना इन प्रदर्शनों से अछूता रह गया हो। अपने प्रदर्शनदल के साथ सामरजी स्वयं यात्रा करते हैं। कभी दर्शक और कभी प्रदर्शक दोनों ही दृष्टियों से वे इन प्रदर्शनों का लाभ लेते हैं। प्रत्यक्ष में प्रदर्शक नहीं लगने पर भी इन प्रदर्शनों में उनका अंग-रंग समाया हुआ रहता है। कई बार वे दर्शक के रूप में भी प्रदर्शक की अच्छी भूमिका निभाते हैं। प्रदर्शन के पूर्व उनके द्वारा उच्चरित कमेण्टरी सुनकर ही दर्शक प्रदर्शन का लाभ उठा लेते हैं। यह सब उनकी वाणी, टेकनीक और सूझबूझ का ही प्रताप है। वादकों के बीच में चुपचाप बैठे हुए सामरजी अपने माइक-साथी के साथ बिना मंच-प्रदर्शन के ही दर्शकों को लोटपोट कर देते हैं और भावी प्रदर्शन की पूर्व-पिचकारियों में सराबोर कर असली प्रदर्शन का सा मजा दे देते हैं। भवाईनृत्य के पूर्व की गई उनकी कमेण्टरी प्रदर्शन के पूर्व ही भवाईनृत्य में चार चाँद लगा देती है और जब कमेण्टरी के हूबहू नखशिख पर प्रदर्शन भी उतना ही खरा उतरता है तो तालियों की खचाखच गड़गड़ाहट से आकाश तक हिल उठता है।

प्रदर्शनकाल में उनके सम्मान में होनेवाले स्वागत-समारोहों, अभिनन्दनों, कलासंगोष्ठियों तथा आकाशवाणी एवं विविध विशिष्ट भेंट-वार्ताओं में उनसे कई प्रकार के अजीबोगरीब प्रश्न पूछे जाते हैं। सामरजी इन प्रश्नों का उत्तर अपनी कला-विलक्षणानुभूति एवं अध्ययनानुभव के आधार पर देते हैं जिनमें प्रदर्शनकला के मानदंड, प्रस्तुतीकरण, उद्देश्य, अनुरंजन, प्रतिपादन एवं उनकी लोकधर्मिता से संबंधित कई बातों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। ऐसे ही यहाँ कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के दौरान दिए गए सामरजी के अपने अनुभव-निकष दृष्टव्य हैं जो उन्होंने मेरे आग्रह पर एक बार रंगायन के लिये लिखे थे।

## सामरजी के प्रदर्शन-विषयक अनुभव :

'मैं जब अपने प्रदर्शनदल के साथ भारतीय दौरे पर होता हूँ तो मेरे दोस्तों और आत्मीयजनों को बड़ा अचम्भा होता है कि मैं क्यों अपना मूल्यवान समय इस प्रवृत्ति पर लगाता हूँ जबकि संस्था के कई महत्त्वपूर्ण विभागीय कार्य मेरे

द्वारा मार्गदर्शन की अपेक्षा रखते हैं। ऐसे अनेक मूक-अमूक प्रश्न मेरे मित्रों एवं सहकर्मियों में उठने स्वाभाविक हैं। मैंने इस पर अनेक वार बड़े गम्भीर ढंग से विचार किया है परन्तु मैं अभी तक भी बड़े तल्लीनभाव से इस कार्य में लगा हुआ हूँ। मेरा स्वयं का रंगमंचीय कार्य अब मेरी आयु आदि के कारण पहले से बहुत कम होगया है फिर भी प्रदर्शनों के प्रति मेरी ममता किसी प्रकार कम नहीं हुई है। मैं यह भी भली प्रकार सोचता हूँ कि इस कार्य में मेरी अत्यधिक शक्तियाँ लगती हैं और संस्था के स्थानीय कार्यों में थोड़ा बहुत व्यवधान भी आता है।

साधारणतः किसी भी कलासंस्थान के प्रदर्शनदल की व्यवस्था आदि का कार्य किसी पृथक् व्यवस्थापक के हाथ में होता है और कलाकार एवं कला-निदेशक उसका सुचारु संचालन भी करते हैं। इस तरह के अनेक दलों के मुझे अच्छे और बुरे दोनों ही अनुभव हैं। अच्छे अनुभव तो तब होते हैं जब कि दल का नेता प्रवीण कलाकार ही नहीं कलामर्मज्ञ, दूरद्रष्टा एवं मानवीय गुणों से ओतप्रोत होता है। वह अपने कलाप्रदर्शनों को केवल आजीविका-उपार्जन मात्र का साधन नहीं समझता बल्कि वह उनके द्वारा दर्शकों के मानस को उद्वेलित कर उनकी भावनाओं को परिष्कृत करने का बहुत बड़ा स्वप्न साकार करता है।

## सच्चा कलाकार कौन ?

साधारणतः किसी को खुश करने की कला इतनी मुश्किल नहीं है। अपना मुँह सिकोड़कर, किसी भी वात को तोड़-मोड़कर, तोंद फुलाकर एवं हास्य-विनोद के प्रसंग उपस्थित कर कोई भी व्यक्ति रंगमंच पर किसी को खुश कर सकता है। परन्तु वह खुशी जो मनुष्य के हृदयपटल पर स्थायी रूप से अंकित होजाय; जिसके लिए उसे अपना मस्तिष्क अधिक नहीं खपाना पड़े, जिसे प्राप्त करने के लिए उसे अपनी संस्कारगत अच्छाइयों का त्याग न करना पड़े तथा जो उसके भावबोध की अमर धरोहर वनजाय; बिरले ही कलाकार पैदा कर सकते हैं।

## प्रदर्शन-विषयक दर्शकों की प्रतिक्रियाएँ :

आमतौर से कलाप्रदर्शन देखकर दर्शकसमुदाय में नाना प्रकार की प्रतिक्रियाएँ पैदा होती हैं। कोई कहता है – 'व्यर्थ ही में समय खराव किया।' कोई कहता है – 'मजा आगया।' कोई कहता है – 'कलाकृति का संगीत एवं नृत्यपक्ष वहुत फीका है।' कोई कहता है – 'मैं तो हँस-हँसकर लोटपोट होगया' और कोई कहता है – 'प्रदर्शन देखकर आत्मविभोर होगया।' आशय यह है कि एक ही प्रदर्शन कभी-कभी एक ही दर्शकसमाज में विभिन्न प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करता

है। इसका तात्पर्य, जहाँ तक मैं समझता हूँ, यही है कि प्रदर्शन में कोई न कोई दोष अवश्य है जो इस प्रकार की विरोधी प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करता है। मैं उसी प्रदर्शन को सफल प्रदर्शन मानता हूँ जो दर्शकसमाज को इतना अधिक विभोर करदे कि वह किसी प्रकार की प्रतिक्रियाएँ प्रकट करने में अपने को असमर्थ पावे। मैं स्वयं अपने प्रदर्शनों के बाद दर्शकों की इन प्रतिक्रियाओं को जानने को इसलिए अधिक उत्सुक नहीं रहता हूँ क्योंकि प्रदर्शन के दौरान ही उनके गुण-दोषों का पता लग जाता है। मैं स्वयं अपने को दर्शकों की स्थिति में रखने की सामर्थ्य अपने में पैदा कर लेता हूँ और मुझे प्रदर्शनोपरान्त उनसे मिलने की आवश्यकता ही नहीं रहती है। मेरे प्रदर्शनों में यदि कोई दोष रह जाता है तो वह प्रस्तुतीकरण का ही होता है क्योंकि जहाँ कलाकृतियों का प्रश्न है मैं उन्हें उच्च कलास्तर प्राप्त होने पर ही प्रस्तुत करता हूँ।

**प्रस्तुतीकरण का महत्त्व :**

किसी भी कला-प्रदर्शन का प्रस्तुतीकरण ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है। मैंने कितनी ही अच्छी से अच्छी कलाकृतियों को उचित प्रस्तुतीकरण के अभाव में मिट्टी होते देखा है और कितने ही कला-प्रदर्शन मेरे ध्यान में ऐसे भी हैं जिनका स्तर कुछ भी नहीं होते हुए भी प्रस्तुतीकरण की खूबियों के कारण अत्यन्त प्रभावशाली बन जाते हैं। दर्शकगण बड़ी आशाएँ लेकर, कहीं-कहीं धन खर्च करके और कहीं-कहीं धन से भी अधिक अपना अमूल्य समय देकर प्रदर्शन देखते हैं और जब प्रदर्शन के प्रस्तुतीकरण की कमजोरी के कारण उन्हें निराशा होती है तो उसकी कल्पना वे ही लोग कर सकते हैं जो प्रदर्शन एवं प्रदर्शनों की प्रस्तुतीकरण-कला के माहिर होते हैं।

**प्रदर्शन – उद्देश्य एवं अनुरंजन :**

भारतीय लोक कला मंडल का प्रदर्शनकार्य स्वयं अपने में बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य है। ऊपर से देखने-समझने से यही प्रतीत होता है कि वह मनोरंजन प्रदान करके आर्थिक उपलब्धि का साधन मात्र है। इस धारणा में तथ्य केवल इतना ही है कि इन प्रदर्शनों से उच्चकोटि का मनोरंजन भी मिलता है और इनसे आर्थिक उपलब्धि भी होती है। परन्तु इससे ऊपर जो कुछ भी मिलता है उसे कदाचित् मेरे सिवाय और कोई नहीं जानता। ऐसी कुछ अजीब सी भावना मुझमें इसलिए बन गई है क्योंकि आए दिन मेरे मित्रों द्वारा इस तरह के प्रश्न उठाये जारहे हैं। अभी हाल ही की बात है – होली मेले पर भारतीय कलाकेन्द्र ने भारतीय लोक कला मंडल के दल को दिल्ली बुलाया। देश के

विविध क्षेत्रों के अन्य कई दल भी होली सम्बन्धी उल्लासकारी नृत्य प्रस्तुत करने के लिए इस मेले में बुलाए गए थे। लोक कला मंडल के दल का नेतृत्व भी मैंने ही किया। मैं चाहता तो कोई अन्य प्रतिनिधि भी इस समारोह में दल का नेतृत्व करने दिल्ली जा सकता था, क्योंकि जो नृत्य इस मेले में प्रस्तुत किए गए वे रंगमंचीय औपचारिक शैली में प्रस्तुत नहीं किए गए थे।

जब मुझे रंगमंच के पास संगीतकारों के साथ बैठे हुए, कमेण्टरी करते हुए तथा इधर-उधर प्रदर्शनों की व्यवस्था करते हुए कई लोगों ने देखा तो ऐसा लगता था कि उनमें कुछ आश्चर्य जागृत हुआ। जो मुझे जानते थे उन्होंने आपस में कहा– 'इस उम्र में भी यह कैसा काम करते हैं? ऊपर जो महानुभाव मेले की कमेण्टरियाँ कर रहे थे उन्होंने कमेण्टरी में मेरे लिए कहा–'बड़ी प्रसन्नता की बात है कि पद्मश्री सामरजी स्वयं इस दल का नेतृत्व कर रहे हैं। ये वही व्यक्ति हैं जिन्होंने भारत का विदेशों में बड़ा नाम किया है। ये राजस्थान संगीत नाटक अकादमी के अध्यक्ष भी हैं आदि-आदि।' कई महानुभाव जो मुझे पहले से जानते थे वे कहने लगे– 'आप जमीन पर न बैठें, कुर्सियां मौजूद हैं।' कुछ लोग कहने लगे – 'साज़ आप स्वयं क्यों उठा रहे हैं, हम अभी मजदूर भेजते हैं।' कुछ लोगों को जब यह मालूम हुआ कि मैं कलाकारों के साथ समारोह-स्थल से चार मील दूर अपनी मंडली के साथ किसी धर्मशाला में ठहरा हूँ तो आश्चर्य करने लगे। और तथ्य की बात भी यही है कि समारोह के अधिकारियों ने मेरे निवास आदि के लिए समारोह-स्थल पर ही उच्चस्तरीय प्रबन्ध कर रखा था जो समारोह की समाप्ति तक भी मेरे लिए सुरक्षित रहा, परन्तु मैंने उसका उपयोग नहीं किया। यह तो एक उदाहरण मात्र है। ऐसी घटनाएँ तो आए दिन मेरे प्रदर्शनकारी जीवन के साथ हमेशा ही लगी हुई हैं। मेरे कलाकारबन्धु तो हमेशा ही यह कहते रहते हैं कि बाबा (मुझे मेरे कलाकार बाबा शब्द से ही सम्बोधित करते हैं) उदयपुर में आपका स्वरूप दूसरा है और यात्राकाल में दूसरा। उदयपुर में तो हमारी आपके दफ्तर में घुसने की भी हिम्मत नहीं होती परन्तु आप जब हमारे साथ बस में बैठते हैं तो हम आपको बिल्कुल हमारे जैसा ही पाते हैं। खेलते, उछलते, बैठते, खाते, पीते आपका जीवन हमारे में सहज घुलमिल जाता है और हम आप में एकजीव होजाते हैं।

**प्रस्तुतीकरण का रोल :**

यह बात तो तब की हुई जब मेरा रोल केवल व्यवस्थापक का होता है। परन्तु जब मीरा के जीवन पर आधारित हमारी भारत-प्रसिद्ध कृति 'म्हाने

चाकर राखोजी' रंगमंच पर प्रस्तुत होती है तो विक्रम की भूमिका में एक हृष्टपुष्ट व्यक्ति को रंगमंच पर देखकर अनेक दर्शक आश्चर्यचकित होजाते हैं। उनको पता नहीं लगता कि यह विक्रम कौन है ? उसके प्रवेश होते ही सारा रंगमंच सजीव हो उठता है। समस्त कृति में एक विचित्र सा रंग आजाता है। नाट्य की समाप्ति तक भी यह भेद भेद ही वना रहता है। अन्त में राष्ट्रगान के लिए समस्त कलाकार रंगमंच पर उपस्थित होते हैं। यह वह घड़ी है जब मीरा का द्वारिकाधीश के मंदिर में अवसान हुआ ही होता है। भगवान् मीरा को दर्शन देकर अन्तर्धान हुए ही होते हैं। दर्शकों पर सघन विषाद छाया रहता है। वाल, वृद्ध, युवा, युवतियाँ सव सिसकियाँ भरते होते हैं। महाराणा विक्रम माइक पकड़कर जनता को संवोधित करते हैं – 'आपने आज के प्रदर्शन को सफल वनाने में हमारा जो सहयोग किया उसके लिए मैं आपका वड़ा आभारी हूँ।' उसी समय दर्शकों में कानाफूसी होने लगती है – 'अरे ये तो सामरजी हैं। ये वही व्यक्ति हैं जिन्होंने प्रदर्शन के प्रारंभ में संस्था का परिचय दिया था।" अन्त में जब प्रदर्शन-समाप्ति पर मैं हाल के बाहर आता हूँ तो लोगों के प्रश्नों के साथ ही उनके आनन्द की कोई सीमा नहीं रहती है। कुछ लोग कहते हैं – 'वास्तव में अब हम समझे कि आपकी उपस्थिति प्रदर्शनों के समय क्यों आवश्यक है। सामरजी यदि विक्रम का काम नहीं करते तो समस्त कृति फीकी ही रहती।'

भारतीय लोक कला मंडल के प्रदर्शनदल के वहुमुखी कर्त्तव्य हैं। संस्था के लिए धनसंग्रह का कार्य इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कला-प्रदर्शनों की महत्ता है। धनसंग्रह का कार्य तो संस्था की अन्य कलाविधाओं एवं दस्तकारियों के कार्य से भी हो सकता है। संस्था के मित्रों एवं प्रशंसकों की संख्या अव देश में अनगिनत होगई है। यदि इसके लिए कोई अभियान संस्था द्वारा चलाया भी जाय तो यह काम इतना कठिन नहीं है। परन्तु इन प्रदर्शनों के माध्यम से जनता की जो सेवा होरही हैं वह आँकड़ों द्वारा नहीं रखी जा सकती। संस्था के प्रदर्शन लोकविधाओं के अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रयोग के रूप में प्रस्तुत होते हैं। लोकनाट्य, लोकनृत्य, लोकगीत एवं पुतलियों के पारम्परिक रूपों को आधुनिक रंगमंच के योग्य उनकी सम्पूर्ण विशुद्धताओं के साथ कैसे प्रस्तुत किया जाता है, इसके ये प्रदर्शन उत्कृष्ट नमूने हैं।

**प्रदर्शनों के विविध प्रकार :**

इस समय देश में जिन प्रदर्शनों की भरमार है वे प्रायः इस प्रकार हैं :–

(१) विशुद्ध शास्त्रीय शैली के नृत्य एवं गीतों के प्रदर्शन।

(२) आधुनिकतम शैली के नृत्य, गीत एवं नाटक के प्रदर्शन ।
(३) विशुद्ध लोकनृत्य, लोकनाट्य एवं लोकगीतों के प्रदर्शन ।
(४) लोकाधारित शैली के नृत्य, नाट्य एवं संगीत के प्रदर्शन ।
(५) पश्चिम की भद्दी नकल के रूप में अत्यंत असंस्कारिक एवं कुरुचिपूर्ण भावनाएँ उत्पन्न करनेवाले प्रदर्शन ।

इनमें पाँचवें प्रकार के प्रदर्शन इस तरह देश में व्याप्त होगए हैं कि उनका देश की नवीन पीढ़ी पर वहुत बुरा प्रभाव पड़ रहा है। दूसरे प्रकार के प्रदर्शनों में भी वहुत ही कुरुचिपूर्ण विधाओं के प्रदर्शन होरहे हैं। चौथे प्रकार के जो प्रदर्शन हमारे देश में जोर पकड़ रहे हैं वे उन नृत्य, गीत एवं नाट्यों के प्रदर्शन हैं जो लोकाधारित प्रदर्शनों के नाम से प्रचारित तो अवश्य होते हैं परन्तु वे न तो विशुद्ध लोकविधाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं और न उनमें कोई भी लोक-कला का आधार ही दृष्टिगोचर होता है।

## लोकधर्मी विशेषताएँ :

भारतीय लोक कला मंडल के प्रदर्शनों में अधिकांश आइटम ऐसे हैं जो विशुद्ध लोकधर्मी विधाओं के मूलभूत तत्वों को अपने में समाहित करके उनका अत्यन्त परिष्कृत स्वरूप रंगमंच पर प्रस्तुत करते हैं। मिसाल के तौर पर कलामंडल के सर्वाधिक लोकप्रिय एवं चर्चित लोकनाट्य 'पनिहारी' ही को लीजिए। यह विशुद्ध लोकनाट्य नहीं है और न इस विषय की कोई लोक-नाटिका ही प्रचलित है। परन्तु इस नाटिका की समस्त भावना लोकभावना से ओतप्रोत है। इसमें प्रयुक्त होनेवाले सभी गीत विशुद्ध लोकगीत हैं तथा प्रस्तुतीकरण का टेकनीक भी राजस्थानी लोकनाट्यों ही का टेकनीक है। इसका प्रणय-प्रसंग भी ग्राम्य जीवन में निहित युवक-युवतियों के विशुद्ध प्रेमाचार ही का अत्यन्त मनोरम चित्रण करता है। समस्त नाटिका ग्राम्य जीवन की अल्हड़ता, विशुद्धता, कर्मठता तथा हास्य-विनोद एवं व्यवहार के खुरदरेपन को वहुत ही सुन्दर ढंग से व्यक्त करती है। मंडल के विविध प्रदर्शनों में पनिहारी नाटिका की तरह ही अनेक आइटम ऐसे हैं जो लोककलाओं का अत्यंत आकर्षक एवं प्रकृत रूप उपस्थित करते हैं। उक्त सभी वातों का इन प्रदर्शनों में अत्यंत कड़ाई के साथ पालन किया जाता है और किसी ऐसी सामग्री का प्रवेश निषिद्ध समझा जाता है जो भारतीय लोकधर्मी कलाओं की प्रकृति एवं स्वभाव के विरुद्ध जाती है। यहाँ तक कि शास्त्रीय विधाओं के प्रयोग में भी अत्यंत कड़ाई का रुख अपनाया जाता है। शास्त्रीय शैली की कला का प्रयोग बहुधा नहीं

किया जाता है और यदि कहीं होता भी है तो वहीं होता है जहाँ वह निरंतर प्रयोग से लोकविद्या का स्वरूप ग्रहण कर गई है। जैसे ब्रज की रासलीला में नृत्य की नटवरी शैली एवं गीतों की ध्रुपद शैली लोकशैली बनकर प्रयुक्त हुई है। इसी रासलीला की एक झाँकी कलामंडल की ख्यातिप्राप्त कृति 'म्हाने चाकर राखोजी' में अत्यंत निखार प्राप्त कर गई है।

मंडल के प्रदर्शन देश के कोने-कोने में व्याप्त होगए हैं। फिल्मों की इस दुनियाँ में जहाँ मनोरंजन के प्रायः सभी साधन दुर्बल होगए हैं और जनता की अभिरुचि उनसे हट सी गई है वहाँ कलामंडल के प्रदर्शन उनकी चुनौती को मंजूर करके अपना शानदार कीर्तिमान स्थापित कर चुके हैं। उनसे शिक्षित, अशिक्षित, कलाविद्, कला-अनभिज्ञ, बाल, वृद्ध, युवक, ग्राम्यजन, शहरी, नागरिक, देशी-विदेशी, स्त्री-पुरुष सभी समान रूप से अनुरंजित होते हैं। कइयों को यह कहते सुना गया है कि मंडल के प्रदर्शन उन फलों के समान हैं जो कि बगीचे में अपने स्वयं के हाथों से ताजा-ताजा काटकर कच्चे, पक्के, खट्टे, मीठे, तीतरे, कसायले आदि स्वादों में खाए जाते हैं और फिर भी निरंतर उन्हें खाते रहने की ही इच्छा बनी रहती है। कलामंडल के प्रदर्शनों की उक्त विशेषता अनायास ही उनमें समाविष्ट नहीं हुई है। उनके पीछे बरसों की साधना, गूढ़ पैनी दृष्टि, मर्मभेदी सूझबूझ एवं गहन जनकल्याणकारी भावना है। मैं यह मानकर चलता हूँ कि स्वस्थ प्रदर्शन कल्याणकारी होते ही हैं। कल्याणकारी बनने के लिए किसी भी कृति में कोई सामाजिक सेवा का तत्त्व निहित होना आवश्यक नहीं है बल्कि कहीं-कहीं तो ऐसे भी प्रसंग आते हैं जिन्हें यदि ठीक से प्रस्तुत न किया जाय तो वे हित से अहित भी कर सकते हैं।

### विषय-सामग्री की ईमानदारी :

मेरी मान्यता है कि प्रदर्शन की विषय-सामग्री में शुद्धता, स्वाभाविकता एवं परम ईमानदारी का व्यवहार किया जाना चाहिए तथा प्रस्तुतीकरण में दर्शकों से कहीं अधिक दर्शकों के मूल्यवान समय, उनकी मूल्यवान ग्रहणशक्ति एवं उनकी आकांक्षाओं एवं आशाओं को आदर की दृष्टि से देखा जाना चाहिए। यदि प्रस्तुत होनेवाली कृतियों की भावात्मक ऊँचाई, प्रदर्शनात्मक कसावट, उनकी मनोवैज्ञानिक योग्यता एवं प्रदर्शनकारियों के कलात्मक स्तर एवं उनकी अदायगी की प्रवीणता आदि में पूरी सावधानी बरती जाती है तो प्रदर्शन की सफलता में कोई संदेह नहीं रह जाता। ऐसे प्रदर्शन दर्शकों की भावनाओं को परिष्कृत करते हैं। उनको कुछ समय के लिए पार्थिव स्पर्शों से

ऊपर उठाकर परमानन्द का अनुभव कराते हैं। क्या मालूम कितने ही दर्शक ऐसे हों जो अपने संतप्त जीवन के कुछ क्षणों को सुख में भिगोने के लिए प्रदर्शन में आये हों ? आज जीवन में यदि किसी चीज की सर्वाधिक आवश्यकता है तो ऐसे ही क्षणों की जो हमें जीवन के झंझटों से दूर रखें, जो हमारी कुंठित भावनाओं को रसाप्लावित करें और जिनसे हमारे मन की ग्रन्थियाँ खुलकर अपना उचित समाधान प्राप्त करें। यही कारण है कि मैं अपने प्रदर्शनों में अपनी सर्वाधिक शक्तियाँ लगाता हूँ और उनके शैक्षणिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक एवं अनुरंजनात्मक तत्त्वों की सबसे ज्यादा देखभाल करता हूँ। प्रदर्शन के विषय – गीत, नृत्यों की सांस्कारिकता, मौलिकता एवं उनके द्वारा प्रस्तुत होनेवाले लोकधर्मी तत्त्वों की सच्चाई का पूरा ध्यान रखना मेरा परम कर्त्तव्य हो जाता है।

## उपलब्धियों का वास्तविक चित्रण :

मैं यह भी जानता हूँ कि मेरे प्रदर्शन भारतीय लोक कला मंडल के लक्ष्य, उसकी उपलब्धियों, प्रवृत्तियों एवं उसके शोध-सर्वेक्षण और लोकधर्मी कला-तत्त्वों के सही और वास्तविक चित्रण के उत्कृष्ट नमूने समझे जाते हैं। उनसे कई कलाकार प्रेरणा प्राप्त करते हैं। कई कलाविद्वान् अपनी कला-परख के लिए उनसे खुराक पाते हैं। जो महानुभाव हमारे प्रदर्शन देखते हैं या हमारे सम्पर्क में आते हैं उनके लिए हमारा कलादल ही चलता फिरता कला-मंडल है। जिस तरह कई लोग कलामंडल के संग्रहालय एवं उसकी विविध प्रवृत्तियों को देखने के लिए कलामंडल में आते हैं उसी तरह इस प्रदर्शनदल के माध्यम से स्वयं कलामंडल मूर्तिमान होकर दर्शकों के पास जाता है। अतः यह चलता फिरता कलामंडल उनकी आशाओं के अनुकूल उतर सके इसका पूरा ध्यान रखना आवश्यक होता है। इस लक्ष्य की पूर्ति में मेरी उपस्थिति का बहुत लाभ होता है, इसमें कोई दो राय नहीं है।

## एकरूपा कलाकार बहुरूपी कलाएँ :

कलामंडल प्रदर्शनदल के प्रायः सभी कलाकार केवल प्रदर्शक मात्र ही नहीं हैं। वे जो भी रंगमंच पर प्रस्तुत करते हैं, उसकी समस्त पृष्ठभूमि से वे पूर्णतः परिचित रहते हैं। वे पारंपरिक लोकसंगीतज्ञ एवं लोकनृत्यकार हैं और स्वयं लोकगीत और नृत्य आदि का संकलन करते हैं। वे स्वरलिपियाँ बनाते हैं, रेकार्डिंग करते हैं, फिल्में उतारते हैं एवं उनका वर्गीकरण करते हैं। वे हमारे सर्वेक्षणदल के साथ क्षेत्रीय सर्वेक्षणकार्य में मौलिक भूमिका अदा करते हैं।

वे सार्वजनिक रूप से छात्र-छात्राओं, लोककलाकर्मियों को गीत, नृत्य आदि सिखाते हैं तथा सामूहिकनृत्य एवं सामूहिकगान के सार्वजनिक कार्यक्रमों में महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। कठपुतली कलाकार स्वयं कठपुतलियाँ बनाते हैं, उन्हें कपड़े पहिनाते हैं, उनका रंगमंच तैयार करते हैं तथा देश के कोने-कोने से आनेवाले कठपुतली विशेषज्ञों, अध्यापकों तथा छात्रों को शैक्षणिक एवं सामान्य कठपुतलियों का प्रशिक्षण देते हैं। जो प्रदर्शनयात्रा के रंगमंचीय विशेषज्ञ हैं वे संस्था के क्राफ्ट, रेकार्डिंग, सर्वेक्षण और डोक्युमेण्टरी फिल्मों के विशेषज्ञ हैं जो केवल यात्राकाल में ही रंगमंच एवं कठपुतलियों की साज-सज्जा के माध्यम से मंडल की सेवा करते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि प्रदर्शनयात्रा के समस्त सहयोगी केवल मात्र रंगमंच ही के कलाकार नहीं हैं, वे संस्था के विविध विभागों के कर्मठ एवं मूल्यवान कार्यकर्त्ता भी हैं। (रंगायन अंक ३६, अप्रेल १९७०)

## विदेशयात्राएँ :

सच्ची लगन, निष्ठा और साधना कभी निष्फल एवं निस्तेज नहीं होती। इनमें रचपचनेवाला व्यक्ति बड़ा होनहार, क्रांतदर्शी एवं यशस्वी होता है। उसकी प्रतिभा-चमक सूर्य की रोशनी से भी अधिक प्रखर होती है। वह राहों का अनुगामी नहीं होकर उनका अन्वेषी होता है।

सामरजी के साथ यह बात शत-प्रतिशत लागू होती है। अपनी राहों के स्वयंखोजी रहने के कारण सफलता के सितारे सदैव ही इनके चरणों में लोटपोट होते रहे हैं। इस संबंध में इनकी तीन विदेशयात्राएँ उल्लेखनीय रही हैं।

**(अ) प्रथम यात्रा :** सामरजी की यह यात्रा सितम्बर सन् १९६० में हुई। यह यात्रा भारत सरकार के प्रतिनिधि के रूप में रुमानिया में होने वाले द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय कठपुतली समारोह में एक दर्शक-पर्यवेक्षक की हैसियत से की गई थी। इस यात्रा में सामरजी अकेले ही थे। इस समारोह में ३८ देशों ने अपने कठपुतलीदल सहित भाग लिया। इसमें सामरजी ने अपना अधिकांश समय विविध दलों के कठपुतली-प्रदर्शन देखने, कठपुतली-कलाकारों से मिलने, उनकी कला का निकट से अध्ययन करने तथा कठपुतली-कला के नवीनतम प्रयोग एवं तंत्र से परिचित होने में व्यतीत किया। इस बीच सामरजी ने अपनी कठपुतलियों का एक छोटा सा प्रदर्शन भी वहाँ दिया जो बहुचर्चित एवं प्रशंसित रहा। मुख्यतः पुतलियों की चित्ताकर्षक राजस्थानी वेशभूषा एवं लोकसंगीत ने सबका मन मोह लिया। इस समारोह में सामरजी ने अपने

कलापांडित्य से विशिष्ट छाप छोड़ी, फलस्वरूप उन्हें डिप्लोमा के साथ-साथ प्रशंसा-प्रमाणपत्र से भी सम्मानित किया गया।

**(ब) द्वितीय यात्रा :** सामरजी की पिछली विदेशयात्रा तथा कठपुतली विषयक किए गए उनके प्रयोगों से उनकी जो ख्याति हुई उससे सभी परिचित थे। तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने सामरजी का कठपुतली-प्रदर्शन एकबार अपने निवासस्थान पर देखा था। प्रदर्शन देखकर शास्त्रीजी बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा कि – 'यदि भारत की कठपुतलियाँ इतना कमाल दिखा सकती हैं तो निश्चय ही विश्व-रंगमंच पर भी ये कठपुतलियाँ बाजी मार सकती हैं।' शास्त्रीजी की ही कृपा के फलस्वरूप बुखारेस्ट में तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय कठपुतली समारोह का आयोजन प्रारंभ हुआ तो सामरजी के साथ उनके दल को इस समारोह में भाग लेने का सुअवसर प्राप्त हुआ।

इस दल में सामरजी के अतिरिक्त गोविन्द, दयाराम तथा तुलाराम नामक प्रसिद्ध पुतलीकार थे। भारत के अतिरिक्त इस समारोह में अमेरिका, बुल्गारिया, डेनमार्क, स्वीडन, फ्राँस, स्विटजरलेण्ड, कनाडा, पोलेण्ड, यू. ए. आर., बोलिविया, अल्बानिया, होलेण्ड, चेकोस्लोवाकिया, मेक्सिको, फिनलैण्ड, आस्ट्रेलिया, युगोस्लाविया, ग्रेटब्रिटेन, कोरिया, जापान, मंगोलिया, चीन, क्यूबा, रुमानिया, पूर्वी एवं पश्चिमी जर्मनी, टर्की, इटली, हंगरी, बेल्जियम नामक देशों ने भाग लिया जिसमें परम्परागत कठपुतली-प्रदर्शन का सामरजी (भारत) को सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार प्राप्त हुआ। यहाँ से यह दल रोम, लूब्लिवला, अतरी, पादोवा, म्युनिक, हाइडनहाइम, स्टुटगार्ट, कोलान, लीवरकूजन, बर्लिन, हेम्बर्ग, बोकुम, ब्रूजल्स, पेरिस तथा लंदन होता हुआ २९ नवम्बर को स्वदेश लौटा। इन शहरों में इस दल के ३५ प्रदर्शन आयोजित किए गए। इन प्रदर्शनों के अतिरिक्त सात प्रदर्शन टेलीवीजन पर भी दिए गए।

कठपुतली-जगत् की यह एक ऐसी अभूतपूर्व घटना थी जिसने पिछले दो अढ़ाई हजार वर्ष के विस्मृत हुए कठपुतली इतिहास को उजागर कर अतुलनीय कीर्तिमान स्थापित किया।

**(स) तृतीय यात्रा :** सामरजी की तीसरी यात्रा ट्यूनिशिया की थी। यह यात्रा भी भारत सरकार के प्रतिनिधि के रूप में ट्यूनिशिया की राजधानी ट्यूनिस के निकटवर्ती नगर काथरेज में आयोजित पंचम अंतर्राष्ट्रीय लोकनृत्य समारोह में भाग लेने के लिए की गई थी। इस यात्रा में सामरजी के साथ-साथ उनके कलामंडल के बारह उत्कृष्ट कलाकार थे।

इस समारोह में सामरजी के नेतृत्व में इस दल ने भवाई, तेरहताल, कच्छीघोड़ी, रास तथा आदिवासियों के विविध नृत्य प्रस्तुत किए जहाँ भारत के अतिरिक्त ट्यूनिशिया, रुमानिया, युगोस्लाविया, बुल्गारिया, पोलेण्ड, जेकोस्लोवाकिया, जर्मनी, फ्रान्स, इटली, अलबानिया, अल्जीरिया, लीबिया, सेनीगल, इथोपिया, टर्की, कनाडा, स्विट्जरलेण्ड, हंगरी आदि देशों ने भाग लिया। इस समारोह के दो सर्वश्रेष्ठ पुरस्कारों में से प्रथम टर्की तथा द्वितीय भारत (सामर-दल) को प्राप्त हुआ। समारोह के संबंध में सामरजी ने अपने संस्मरण में लिखा कि – 'जहाँ अन्य दलों के साठ-साठ कलाकार अपने वृहत् वृन्दवादन-दल के साथ अपनी कला पेश करके लोगों को मुग्ध करते थे वहाँ हमारा बारह कलाकारों का लघुदल अपनी स्वाभाविक एवं चमत्कारिक नृत्यमुद्राओं से सारे समारोह पर छागया। सर्वत्र यही चर्चा रही कि यह संक्षिप्त दल (हमारा दल सबसे छोटा था) अपने साथ १०० कलाकारों की शक्ति लाया है। जहाँ अन्य दलों में अपने नृत्य-प्रस्तुतीकरण में यांत्रिक पराकाष्ठा थी, बिजली की सी गति थी तथा तूफान की सी स्फूर्ति थी वहाँ हमारे भारतीय लोकनृत्यों में गाँवों की अल्हड़ता तथा पारम्परिक प्रतिभा की अद्वितीय चमक थी। नृत्यों की पारम्परिक योजना में प्रत्येक कलाकार को अपनी प्रतिभा-प्रदर्शन की पूरी आजादी थी। इन कलाकारों के शरीर में अद्‌भुत लोच एवं चेहरे पर अद्वितीय तन्मयता थी। भावभंगिमाओं में स्वाभाविक सादगी और प्रस्तुतीकरण में प्रबल आत्मविश्वास था। संगीत एवं ताल की सीमा में रहते हुए भी ये कलाकार पूर्णतः स्वतंत्र थे। दर्शकों के समक्ष नृत्य करते हुए भी ये अपनी तन्मयता में लवलीन थे। इन्हें चाहे कोई देखे या न देखे ये पूर्णरूप से आत्म-विभोर थे। अतः इनके नृत्य में पहाड़ी नदी का सा अल्हड़ प्रवाह था। समारोह का लगभग सौ फीट लम्बा और चालीस फीट चौड़ा रंचमंच इनके लिए चुटकी का सा खेल था। पुरुष-कलाकार अपने घेरदार भग्गों में गम्मत करते हुए और स्त्री-कलाकार अपने घेरदार घाघरों में चकरियाँ लेते हुए सारे रंगमंच पर छागए। नृत्यों में चार चाँद लगानेवाली इनकी रंगबिरंगी, चमकीली, आकर्षक एवं कलात्मक पोशाकें इनको और अधिक प्रभावशाली बना रही थीं। वादकों की शहनाई, मंजीरे, नक्काड़े, ढोलक तथा गायकों की सुरीली धुनें, संगीत की तानें एवं मुरकियाँ सबके मन को सम्मोहित कर रही थीं। पहले दिन ही जब हमारे नृत्यदल का प्रदर्शन हुआ तो ५,००० दर्शकों का जनसमूह इन्हें देख आत्मविभोर हो उठा और 'इन्डी इन्डी ब्रेवो' की ध्वनि से समस्त वातावरण गुंजायमान हो उठा।

जीवन के प्रत्येक पक्ष में अपनी रंगीन और मौलिक पोशाक पहिननेवाले भारतीय नृत्यकार सबकी आँखों के तारे बन गए।' (रंगायन अंक २८, अगस्त १९६९)

ट्यूनिशिया से यह दल अरब गणराज्य, ईराक, ईरान, लीबिया, कैरो, मिश्र, बगदाद, कुवैत आदि नगरों में प्रदर्शन देता हुआ लगभग दो महीने की यात्रा कर ११ अगस्त ६९ को भारत लौटा।

## लोकवार्ता समारोह में प्रतिनिधित्व :

ट्यूनिशिया में इस समारोह के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय लोकवार्ता समारोह भी आयोजित किया गया था। भारत की ओर से सामरजी ने इसका प्रतिनिधित्व किया। समारोह का विचारणीय विषय पारम्परिक लोकनृत्यों एवं कलाओं के सैद्धान्तिक पक्ष से संबंधित था। सामरजी ने इस विषय पर आयोजित वार्ता-विमर्ष में भाग लेते हुए अपना निबंध-वाचन भी किया।

पारम्परिक कलाओं के संदर्भ में सामरजी ने मुख्यतः इस बात पर जोर दिया कि – 'पारम्परिक कलाएँ व्यक्ति से उद्भूत होकर सामाजिक बाना पहिनती हैं तथा व्यक्ति के व्यक्तित्व को अपने में तिरोहित कर समाज की धरोहर बन जाती हैं। ये कला-परम्पराएँ प्रत्येक युग के मानद प्रभावों को अपने में आत्मसात् करती हुई अपनी रूढ़ियों के साथ नित नवीन बाना धारण करती हैं।' सामरजी की इस स्थापना ने समारोह में उपस्थित कला-विशारदों को पुनः चिन्तन के लिए बाध्य कर दिया और उनके समक्ष यह एक जटिल प्रश्न बन गया कि पारम्परिक नृत्य-कलाएँ सरल, प्राथमिक, वैविध्यहीन तथा पेचीदगियों से रहित होती हैं अथवा उनका कलात्मक एवं साहित्यिक रूप पेचीदगियों से परिपूर्ण होता है। इस संबंध में भी सामरजी का मत समारोह में सर्वथा भिन्न रहा। उन्होंने कहा – 'मेरे मत में यह आवश्यक नहीं है कि पारम्परिक लोकनृत्यों में पेचीदगियाँ एवं कलात्मक तत्त्व न हों। यह भी आवश्यक नहीं है कि जो प्राथमिक, सरल एवं भौंडे हों वे ही लोकनृत्य और लोकगीत हों और जिनमें संगीत-नृत्य का कलापक्ष पराकाष्ठा तक पहुँच गया हो वे पारम्परिक लोकनृत्य कहलाने के अधिकारी न हों। जिन देशों का सांस्कृतिक इतिहास पुराना नहीं है या जिनका कोई सांस्कृतिक इतिहास ही नहीं है उनके पारम्परिक लोकनृत्यों में प्राथमिकता हो सकती है, क्योंकि उनकी परम्परा को पुष्ट करने के लिए वे सब परिस्थितियाँ कभी भी उपलब्ध नहीं रहीं जो भारत जैसे पारम्परिक देश में रही हैं। यही कारण है कि भारत की पारम्परिक लोककलाएँ, जो जनजीवन में सहस्रों वर्षों से घुलमिलकर सांस्कारिक स्तर प्राप्त

कर गई हैं, प्राथमिकता एवं कला-विहीनता से कोसों दूर हैं। यही बात उन देशों की लोककलाओं पर भी लागू होती है जो परम्परापुष्ट हैं या जिनका सांस्कृतिक इतिहास पुराना है।'

**संगीत नाटक अकादमी की अध्यक्षता :**

सन् १९६७ में राज्य सरकार ने इनकी संगीत नाटक संबंधी निष्णात सेवाओं के फलस्वरूप इन्हें राजस्थान संगीत नाटक अकादमी का अध्यक्ष मनोनीत किया। इनके इस मनोनयन पर स्थानीय महाराणा कुंभा संगीत परिषद् की ओर से किए गए उनके अभिनन्दन में अध्यक्षपद से बोलते हुए श्री निरंजननाथ आचार्य ने कहा था कि – 'सामरजी की कला-साधना व इस क्षेत्र में उनकी गहरी पहुँच और पहल को देखते हुए यह सम्मान उन्हें बहुत पहले ही मिल जाना चाहिए था। राजनीति से कोसों दूर रहते हुए भी यह सम्मान उनके चरणों में स्वतः बिना किसी प्रयास के आया है, यह बड़ी प्रसन्नता की बात है। एक राजनेता की चमक तो क्षणिक होती है। वह जितनी जल्दी प्रस्फुटित होती है उतनी ही जल्दी समाप्त होजाती है जबकि कलाकार की चमक यद्यपि शनैः-शनैः बढ़ती है पर वह शाश्वत होती है। श्री सामरजी हमारे देश के एक ऐसे कलाकार हैं जिन्होंने हमें एक ऐसी कला-रश्मि दी जिसके संबंध में हमने कभी कल्पना तक नहीं की थी। भारतीय लोक कला मंडल जैसी इनकी देन समूचे राष्ट्र में अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलेगी।'

सामरजी को अकादमी के अध्यक्ष बने तीन वर्ष पूरे हो चुके हैं। इस बीच इन्होंने अकादमी के माध्यम से राजस्थान की शास्त्रीय एवं लोकसंगीत, नृत्य तथा नाटक की प्रवहमान धारा-परम्पराओं को न केवल वेग ही दिया अपितु उनके बहाव के कंटीले, जर्जरित रास्ते को सुगम कर उसे उथला, छिछला होने से भी बचाया। कलाकारों को समानधर्मी मंच पर आसीन किया। संगीत नाट्य के समारोह एवं सेमीनार के साथ-साथ प्रशिक्षण-पखवाड़े एवं शिविर संचालित किये। स्वर्गीय कलाकारों की स्मृतियों को अक्षुण्णता प्रदान की और कई अज्ञात एवं निष्णात सेवारत सिद्ध-प्रसिद्ध कलाकारों को प्रोत्साहन एवं पुरस्कार देकर उनके कलाधर्मी रूपों को प्रतिष्ठित किया। राज्य सरकार ने तीन वर्ष के लिए इन्हें पुनः अध्यक्ष मनोनीत किया है।

**पद्मश्री अलंकरण :**

२६ जनवरी १९६८ को राष्ट्रपति ने इन्हें 'पद्मश्री' से अलंकृत किया। लोकजीवन की अन्तश्चेतना में पैठकर उसके समस्त कला-चैतन्य को रक्षित,

फिलपोट और सामरजी : दो विश्वविख्यात्
कठपुतलीमर्मज्ञों का मधुर मिलन [१९६५]
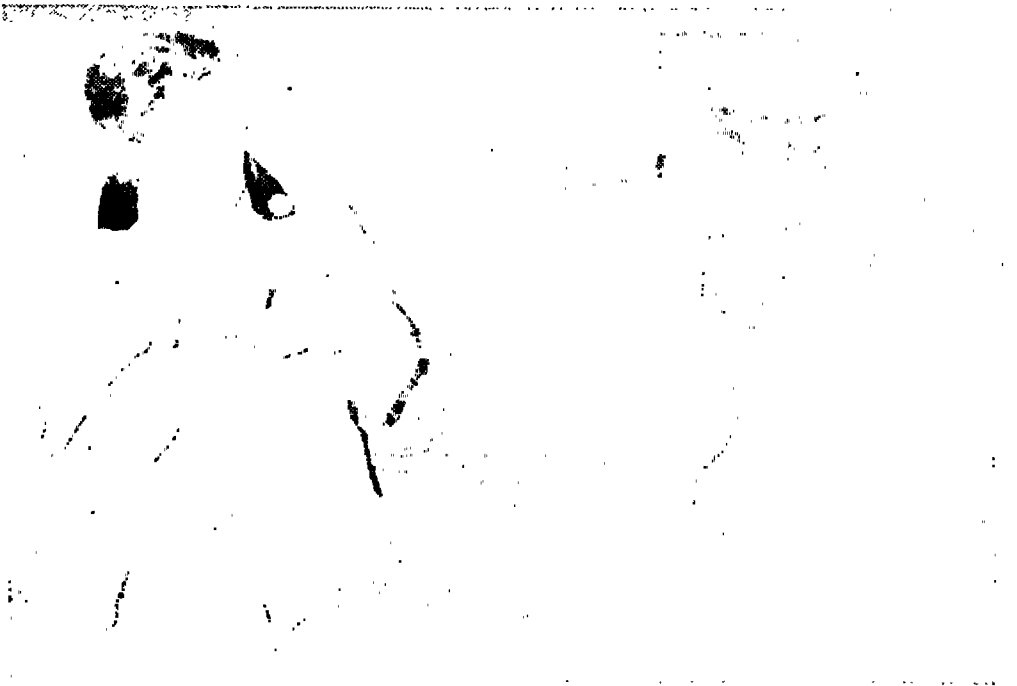
चिंतन के क्षणों में : विश्वविख्यात् शिक्षाविद्
श्रीमती फिशर और सामरजी [१९६६]
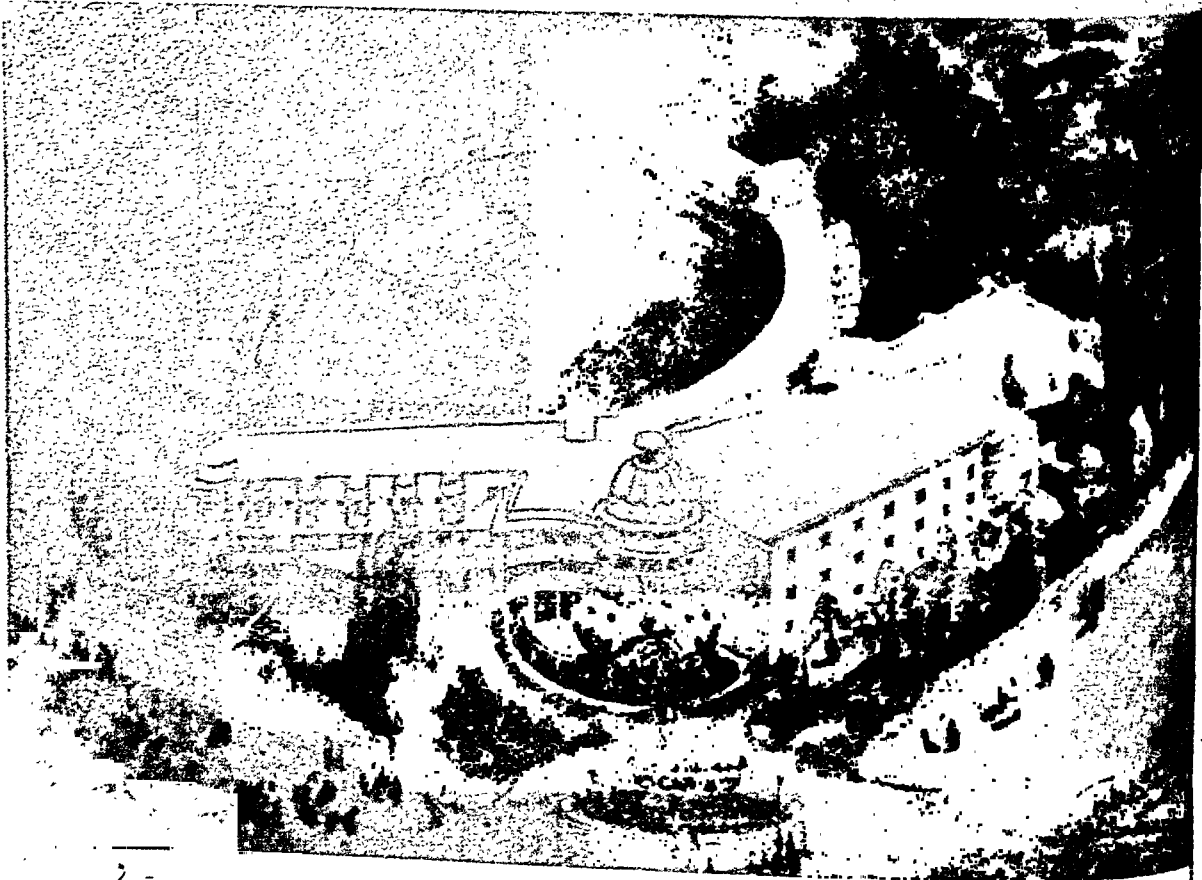
सामरजी के स्वप्नों का साकार स्वरूप : भारतीय लोक कला मंडल, उदयपुर [१९६५]

विकसित, उल्लसित एवं स्फुरित करने में जिस कला-साधक ने अपनी बरसों की कला-साधना को आत्मीभूत कर दिया उसके लिए यह राष्ट्रीय अलंकरण अवश्यं-भावी था। परन्तु इस अलंकरण से सामरजी की जितनी प्रतिष्ठा बढ़ी उससे कहीं अधिक प्रतिष्ठा स्वयं पद्मश्री को अर्जित हुई है।

## लोकनाट्यश्री :

२ नवम्बर १६६६ को इलाहाबाद की कालिदास अकादमी ने अपने अखिल भारतीय संस्कृति सम्मेलन में लोकसंगीत एवं लोकरंगमंच के अध्येता-अन्वीक्षक के रूप में सामरजी को 'लोकनाट्यश्री' की उपाधि से अलंकृत किया।

इस संबंध में 'रंगायन' (अंक ३१) की एक टिप्पणी में मैंने लिखा था—'अकादमी का यह कीर्तिमान सही अर्थों में भारतीय लोकसंस्कृति का वह कीर्ति-कौस्तुभ है जो सामरजी जैसे कला-विष्णु को ही अधिकृत था। लोककलाओं के इस एकनिष्ठ उपासक एवं आजीवनव्रती ने न केवल भारत में अपितु विदेशों में भी भारतीय लोककलाओं को प्रदर्शित करने में अक्षुण्ण ख्याति अर्जित की है। इस उपाधि से जहाँ सामरजी की कीर्ति ख्यात हुई है वहाँ स्वयं कालिदास अकादमी एवं उसके द्वारा आमंत्रित लोकसंस्कृति सम्मेलन भी गौरवान्वित हुआ है।

यह पहला अवसर है जब कि किसी लोकसांस्कृतिक समारोह ने लोकजीवन के अन्तश्चेता मणिधारी को ढूँढ़ निकाला है। लोकश्री द्वारा दिया गया यह अलंकरण पद्मश्री से भी अधिक माहात्म्यमूलक है जो किसी सत्तापुरुष की ओर से नहीं दिया जाकर लोकमन की पयस्विनी से निसृत हुआ है।'

## सामरजी – स्वतः लेखा-जोखा :

सामरजी के आस्था के चरण सदैव ही प्रगतिशील रहे हैं। परन्तु उन्हें कोई गर्व गुमान नहीं है। इस प्रगति में भी लुकी-छिपी अपनी कमियों की ओर ही उनका ध्यान अधिक जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय उपलब्धियों, पद्मश्री तथा लोक-नाट्यश्री जैसी उपाधियाँ प्राप्त करलेने पर भी उनमें कोई फर्क नहीं पड़ा है। वाणी और व्यवहार में वे उतने ही मधुर, हमजोले और हमारे अपने हैं। जहाँ अपनी बढ़ोतरी पर वे सोल्लास अपनी वाहवाही प्रकट करते हैं वहाँ अपनी खामियों को भी उतनी ही जिन्दादिली से प्रस्तुत करते हैं। कलामंडल के उन्नीस वर्ष पूरे होने पर उन्होंने स्पष्ट रूप से अपने प्रतिवेदन में कहा – 'मैं कई वर्षों से जिस कमी का अनुभव कर रहा हूँ उसका उल्लेख इस समय अवश्य करना

चाहूँगा और वह यह है कि लोककलाओं के क्षेत्र में संस्था के अठारह वर्षों का यह अनुभव देश के लिए उदाहरण एवं मार्गदर्शन के रूप में होना चाहिए। कम से कम राजस्थान के लोक-कलाकारों एवं लोककला-अध्येताओं को अब यह अहसास अवश्य हो जाना चाहिए कि लोककला मंडल उनके लिए प्रेरणा-स्रोत है और वहाँ से उन्हें उचित मार्गदर्शन एवं सहयोग मिल रहा है। मैं व्यक्तिगत रूप से कलामंडल को इस विशिष्ट स्थिति में नहीं मानता हूँ। इस उपलब्धि के लिए अब हमारा कार्य केवल शोध, सर्वेक्षण, प्रकाशन एवं प्रदर्शन से तनिक हटकर लोककला एवं लोक-कलाकारों की सहायता की ओर आमुख होना चाहिए।' इससे उनकी जिजीविषा का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

बड़े-बड़े लोगों की बड़ी-बड़ी तारीफों से यह व्यक्ति कभी फूला नहीं है और न ही किसीके तारीफ का एक शब्द भी नहीं कहने पर सिकुड़ा है, सलन और भुर्रियाँ खाई हैं। जिसने अपना मार्ग स्वयं बनाया है वह स्वयं जानता है कि उसे कितना बढ़ना है, वह कितना बढ़ा है और उसकी अपनी कौनसी राह है।

## संस्था और व्यक्ति – सर्वोपरि हित :

संस्था और व्यक्ति के बीच उनके मन में कभी कोई खाई नहीं रही है। वे मानते हैं कि जब तक व्यक्ति और संस्था अपने आप में एकाकार नहीं हो जाते तब तक न संस्था ही पनप सकती है न व्यक्ति ही आगे बढ़ पाता है। उनके मन में संस्थाहित सर्वोपरि रहा है पर उन्होंने व्यक्तिहित को भी कभी नजर-अंदाज नहीं किया है। उन्होंने एक प्रसंग में कहा भी है कि 'देश की इन परिवर्तित स्थितियों में जब मनुष्य के पाँव उखड़ से गए हैं, अपने निहित स्वार्थों से ऊपर उठकर संस्था का हित ही सर्वोपरि मानने की बात जहाँ सर्वत्र कमजोर होती नजर आरही है वहाँ कलामंडल ने अपना नैतिक स्तर गिरने नहीं दिया है इसका हमें संतोष है परन्तु हम दावे के साथ नहीं कह सकते कि हम भी इस कमजोरी से बिल्कुल अछूते हैं। हमारी संस्था का यदि कोई वास्तविक संघर्ष है तो यही कि हम संस्था और व्यक्ति के बीच ऐसा पुल बाँधना चाहते हैं कि जिससे संस्था का हित सर्वोपरि बना रहे और व्यक्ति का हित भी नजरअंदाज नहीं किया जा सके। इस लक्ष्य को सामने रख आगे बढ़ने से आज संस्था की प्रगति में अवश्य ही चार चाँद लगे हैं और संस्था का छोटा से छोटा कार्यकर्त्ता भी आज अपनी योग्यता के अनुसार हर माने में आगे बढ़ने में पूर्ण रूप से समर्थ हुआ है। यह हमारी संस्था की बहुत बड़ी उपलब्धि है।' (रंगायन – अंक २६, पृष्ठ २)

## सामरजी – संस्था और व्यक्ति :

सामरजी एक व्यक्ति भी हैं और एक संस्था भी। दोनों ही दृष्टियों से वे एक उदाहरण बनगए हैं। व्यक्ति की दृष्टि से उन्होंने अपने व्यक्तित्व को 'ध्रुव' बनाया है। संस्था में रहतेहुए भी, उन्हीं की अपनी संस्था होतेहुए भी उन्होंने अपना वर्चस्व, अपना वैभव स्वतः निर्मित किया है। उनका पूर्वार्द्ध यदि 'व्यक्ति सामरजी' नहीं होता तो आज हमारे सम्मुख कलामंडल जैसी 'संस्था सामरजी' के दर्शन नहीं होते। अपने उत्तरार्द्ध में उन्होंने संस्था का हित सर्वोपरि समझा और अपने व्यक्तित्व को उसमें विलीन कर दिया। अतः आज सामरजी और कलामंडल दोनों एक दूसरे के पूरक बनगये हैं।

## सामरजी – एकरूप अनेकरूप :

सामरजी कभी एकरूप नहीं रहे हैं। एक ही सामरजी में कई सामरजी के बिम्ब-प्रतिबिम्ब समाये हुए हैं। एकरूप सामरजी तो वे हैं जो पाजामा, झब्बा और टोपी पहिनते हैं। कभी जाकेट धारण करलेते हैं। विशिष्ट प्रसंगों पर चूड़ीदार पाजामा और शेरवानी चढ़ालेते हैं बस.. इसके अलावा मैंने उनको किसी और लिबास में नहीं देखा है। मगर अनेकरूप सामरजी उस कन्हैया की तरह हैं जो अपने सर्कल में जैसी भूमि होती है वैसा भाव लिए मिलता है। दफ्तर के सामरजी और हैं और घर के और। कलाकारों के सामरजी और हैं और बाड़ी के और। विद्वानों के सामरजी और हैं और साधारण व्यक्तियों के और। दफ्तर में भी सामरजी के कई सामरजी हैं। प्रदर्शन विभाग में जो सामरजी हैं वे खोज विभाग में नहीं और खोज विभाग में जो सामरजी हैं वे प्रदर्शनयात्रा में नहीं। रेकार्डिंग, फ़ोटो फिल्म, कठपुतली, क्राफ्ट सबके सामरजी जुदा-जुदा हैं। किस व्यक्ति के साथ कैसे, कैसी और कितनी किस प्रकार की बात करनी चाहिए यह वे भली प्रकार जानते हैं। इसलिए सदैव उनका देला (दहला) ही देला रहता है। वे नेला (नहला) कभी नहीं बने। यों अपने संक्षिप्त हस्ताक्षरों में भी वे देला ही चलाते हैं। देवीलाल की जगह देला।

## सामरजी–घर में :

ऑफिस के सामरजी में उतना स्नेह-सौहार्द नहीं है जितना घर के सामरजी में है। वहाँ तो यही यही है लटाटूट। कभी लगता नहीं है कि कोई कार्य-कर्त्ता उनके संचालक से मिलरहा है। यहाँ वे घर के व्यक्ति ही की तरह प्रत्येक का आतिथ्य करेंगे। ऊँचे आसन पर बिठायेंगे। स्वयं चाय बनायेंगे, खाना खिलायेंगे

परोसेंगे। घर-गृहस्थी की बातें करेंगे, हँसेंगे, मुस्करायेंगे, खिलखिलायेंगे और मनोविनोद में अमनचैन बरसा देंगे। मगर ऑफिस में वे एडमिनिस्ट्रेटर भी हैं, संस्थापक भी हैं, कामलेवा भी हैं, कामदेवा भी हैं, कलाकार भी हैं, साहब भी हैं। ऑफिस की मान-मर्यादा के रक्षक भी हैं इसलिए उनकी बढ़ोतरी को कौन रोक सकता है? उनकी यह बढ़ोतरी उस मोरपगी की तरह है जो बड़े-बड़े पत्थर-पाषाण में भी अपना अस्तित्व कायम करतीहुई होले-होले हँसी की बत्तीसी बिखेरती रहती है।

## सामरजी – एक वरद एक छत्र :

सामरजी बहुत अच्छे अभिनेता तो हैं ही पर वे मात्र मंच के ही नेता नहीं हैं, अपने व्यावहारिक जीवन के प्रत्येक पहलू-प्रसंग में भी अभिनेता हैं। उनके रहनसहन, बातचीत, खानपान, क्रियाकलाप सबमें अभिनेताई लहजा मिलेगा जो प्रायः पहुँचेहुए अभिनेताओं को भी नसीब नहीं होता है। अपने अभिनेता को इस व्यक्ति ने अपने पूरे जीवन में उतारा है। कूट-कूटकर खांडा है और इसीलिए बिना किसी के आशिष, वरदान और छत्र-छाया के आज यह व्यक्ति स्वयं एक आशीर्वाद, वरद और छत्र बनगया है मगर कितनी यातनाओं, उलझनों, पीड़ाओं और दुःख-दर्दों को पीकर, उनकी दर्दीली घूँटों में जीकर? समाज उँगली दिखाता था जब वे निकलते थे। संबंधी गालियाँ सुनाते थे जब वे मंच पर अपना कमाल दिखाते थे और पड़ौसी गोबर उछालते थे जब वे गायन-नर्तन का 'गोविन्दा' बन सैकड़ों आदमियों के बीच अपनी छवि, अपने स्वरूप और अपनी रूपश्री को लमछराते थे। कहाँ गया वह समाज और वे घिनौने लोग जो सामरजी को नचैया, गवैया और गतकैया कहने में भी शर्म नहीं खाते थे? (नाथद्वारा में तो एक बार इन्हें श्रीनाथजी के दर्शन करने से भी वंचित रहना पड़ा कारण कि लोग इन्हें भी किसी ढोली-मिरासी की जमात का मान बैठे थे। इससे सामरजी जरा भी विचलित नहीं हुए। जात से ओसवाल थे मगर कला-कर्म से ढोली, मिरासी, लंगे, सारंगे सबकुछ थे।) आज वे सब सामरजी से सलाम करते हैं। उनके सामने अदब से थोड़े झुक भी जाते हैं। उन्हें ऊँचा आसन देते हैं। उनके नाम से गौरवान्वित भी होते हैं। उनके आशीर्वाद की मुद्रा के लिए तड़फते भी हैं और कभी-कभी उनसे मुद्रा का आशीर्वाद भी ले पड़ते हैं।

## प्रदर्शनयात्रा की विदाई :

अपने प्रदर्शनदल के साथ सामरजी का रोल ही कुछ दूसरा है। यहाँ वे सब कलाकारों के साथ एक सामान्य, सीनियर किन्तु सम्मान्य कलाकार हैं।

कभी-कभी लम्बी यात्रा में दो-दो, ढाई-ढाई महीने तक लगजाते हैं। कलाकारों में कलानेत्रियाँ भी हैं। अपने-अपने लोग अपने-अपने कलाकारों को पहुँचाने, विदा करने आरहे हैं। सामरजी को भलावण पे भलावण दे जारहे हैं।

प्रातर्वेला, फूलों से भरा सामरजी का गला, कंकुई तिलक भाल, हाथ में नारियल रसाल। वारी-वारी से सामरजी उन सबसे मिलरहे हैं, जो उन्हें विदा कररहे हैं। कुछ लोग सामरजी के चरण छूरहे हैं। कुछ के चरण सामरजी छूरहे हैं (मुख्यतः वहन और वहनोईसा के) मिलने-जुलने का क्रम पूरा होता है और इधर मुहूर्त्त का समय भी हो आता है। वारी-वारी से सबलोग वस में अपनी-अपनी जगह (सबकी जगह नियुक्त है) लेते हैं और देखते-देखते वस हमसे ओझल हो जाती है। मगर शाहजी (व्यवस्थामंत्री श्री रूपलाल शाह) की दृष्टि उधर की उधर गड़ी रहती है। आधे-दूधे लोग विखरजाते हैं। कुछ संगी लोग रहजाते हैं।....... दो ढाई महीने की निरांत होगई है।

**कलाकारों के नखरे :**

वस में कलाकारों के अनेक नाज़-नखरे हैं। नखरे पे नखरे। यदा-कदा आपस में चीं-चीं चूँ-चूँ भी हो जाती है मगर लड़ता कोई नहीं है। चलती वस में सामरजी मीठी चुटकियाँ लेते हैं – 'तुम लोगों के जित्ते भी लोग आज पहुँचाने आये, सब आ-आकर मुझे अजीव-अजीव ढंग से भलावण दे रहे थे। कोई कह रहा था – 'फलाणी वाई के आप ही मालिक हो। ढींकी वाई के आपही मां-बाप हो।' कोई कह रहा था – 'पूंचाचन्द आपही का है, कोई भेदभाव समझो मती। ढींकाचन्द आपरी छत्तरछाया में सूँप मेल्यो है। म्हें तो कई समझां हां न। आपही वंडा पालणहार हो।' 'मां भी मैं और बाप भी मैं। मालिक भी मैं और चाचा भतीजा, भाई भौजाई, खान पैगम्वर, मियां मुसद्दी सब मैं ही मैं। और तुम सव मिलकर मुझे खाओगे कच्चा.......। क्यों माँगी ठीक कह रहा हूँ न ?' माँगी बिचारा शरमाशरमी में क्या कहे, वह 'हाँसाव' कहकर अपने ऑन किये मुख को ऑफ कर देता है। हँसी का ठहाका चल पड़ता है। इतने में किसी छूटते हुए फव्वारे की तरह शकुन्तला वोल उठती है – 'वावा (कलाकार लोग सामरजी को इसी नाम से संवोधित करते हैं।) आप तो मेरी माँ हो।' 'नहीं हमारे तो आप वाप हैं' कहकर लालूराम ने जैसे पिछले अधूरे बोल को पूरा किया। दयाराम से चुप नहीं रहा गया – 'इनके क्या आप तो सबकेई वापों के बाप हो। दादा, पड़दादा और लड़पड़दादा हो' वोलकर उसने इस बात को उतनी ही ऊँचाई दी जितनी ऊँचाई वह अपने भवाई नाच में किसी आखरी गिलास-मटके

को देकर मंच पर जैसे चौकड़ियाँ भरता है। सामरजी ने चुटकी पर चुटकी ली – 'माँ बाप, दादा पड़दादा, मुझे सबकुछ बनाना पर मालिक कोई मत बनाना। मैं आपका क्या मालिक ? अरे भाई आप सबलोग मेरे मालिक हो।' वातावरण बदल जाता है। ठहाकेवाला नहीं रहता है। गाड़ी को गैर में लेते हुए डेनिश धीरे से अमीर को कहता है – 'अमरबाबू कितना ऊँचा बात कही है सामर साहब ने। अफसर हो तो ऐसा हो। क्यूं दादाजी (दयारामजी) कलाकारों का कितना इज्जत है.... इनके दिमाग में ? पूरा जिन्दगीभर हम इनका चरण धोकर पियें तो भी कम है।' वातावरण फिर गंभीर..........गुमसुम......... ।

## कलाकारों के साथ खुलकर :

प्रदर्शनयात्रा में सामरजी कलाकारों के साथ प्रतिदिन प्रातः सामूहिक प्रार्थना करते हैं। दिनभर के किएजानेवाले कार्य का इतिवृत्त देते हैं। रात्रि को किएजानेवाले प्रदर्शन के विषय में आवश्यक निर्देश देते हैं। पिछली रात्रि को दिएगए प्रदर्शन की अच्छाई तथा कमियों के संबंध में खुलकर बातें करते हैं। कब, कहाँ, किसको, क्या-क्या काम करना, कहां खाना-पीना, कितने बजे सोना-उठना, बाहर जाना-आना....... सारी दिनचर्या सुनाते हैं। बेनियम चलने अथवा काम में ढिलाई पाने पर सख्ताई करते हैं। कड़ा फाइन करते हैं।

अनुशासन इन्हें बहुत प्रिय है और उतना ही प्रिय है भाषण देना, अच्छी बात सुनाना, उपदेश देना (लगभग इक्कीस वर्ष विद्याभवन में शिक्षक और होस्टल-वार्डन के रूप में जो बिताए हैं)। हर काम में सफाई, सुथराई और मँजाई चाहते हैं। कलामंडल में तो दिनभर रिहर्सल चलती ही रहती है पर बाहर यात्रा में भी रिहर्सल नहीं छोड़ते हैं। कोई-कोई कलाकार कभी-कभी ऊबकर– अमूंजाकर कह देते हैं – 'दस साल होगए हैं साहब यह काम करते-करते, क्या अब भी रिहर्सल बाकी रह गई है ?' सामरजी हँसकर उसका जबाब देते हैं – 'रिहर्सल और रियाज में ही तो कलाकारों की सच्ची कला छिपी हुई है। जिस दिन से ये दोनों ही चीजें समाप्त हो जायेंगी, कलाकार नाम की कोई चीज़ नज़र नहीं आयेगी।' सामरजी की इस बात से जब उन्हें संतोष नहीं होता है तो दूसरे कलाकार कुछ दूसरी बात क़हकर संतोष दिलाते हैं और स्वयं भी संतोष पाते हैं। 'गेले चलाओ चाहे घास कटाओ, आपां तो हुकम रा गुलाम हां, कुछ काम नहीं हो तो घाघरे में नाड़ा डालो और निकालो, डालो और निकालो मगर चुपचाप मत बैठो,' जैसे कई कहावती मुहावरी फोरमूले सुनने को मिलते हैं। ऊंचे कलाकार मन ही मन इन बातों पर हँस देते हैं। उन्हें ज्ञात

है कि कलाकार उस सोने की तरह है जो जितना जियादा कसता जाता है उतना ही कसौटी पर खरा उतरता है।

**सुबह की प्रार्थना और अमीरखाँ :**

रात को सोते-सोते कभी-कभी बारह-एक बजजाता है मगर फिर भी प्रातः उठने का समय तो वही का वही है। सब उठ भी जाते हैं। एक दिन अमीरखाँ सोया ही रहजाता है। प्रार्थना उसी के चारों ओर बैठकर कर ली जाती है– 'किस विध मैं समझाऊं रे मन तोहे किस विध मैं समझाऊं।' अमीरखाँ गहरी नींद में है। प्रार्थना की गहराई में वह और घनी नींद घोरने लगजाता है मगर ज्योंही प्रार्थना की आखरी कड़ी पूरी होती है, वह हड़बड़ाकर उठ बैठता है। उसे कोई कुछ नहीं कहता है। वह भी समझ नहीं पाता है कि माजरा क्या है? तब सामर साहब अपने लहजे में कह उठते हैं – 'साहब उठगए हैं गहरी नींद से, सबलोग इनसे सलाम-नमस्कार तो करलें।' यही होता है। बारी-बारी से सब कलाकार उससे नमस्कार करते हैं। अमीरखाँ को जैसे काटो तो खून नहीं। वह शर्म से गड़ा जारहा है और धर्म की धरती उसके पाँवों से वेगवती नदी की तरह खिसकी जारही है।........ दो रुपए फाइन की घोषणा पहले ही हो चुकी है।

**कलामंडल – वट से वटवृक्ष की ओर :**

कलामंडल अब बहुत बदल गया है। पचास से ऊपर लगभग साठ के करीब इसमें कुल काम करनेवाले होगये हैं। एक वट से विशाल वटवृक्ष की तरह फल गया है। इसकी विशाल इमारत का कोई कोना खाली नहीं है। कई कोने और हों तो भी भरजाना चाहते हैं। ऊपर भगवानजी परसरामजी पगड़ियों के विविध बंधेज बांधने और कठपुतलियों की विविध पोशाकें बनाने में लगेहुए हैं। इनके हाथ की बंधी-बनी कई पगड़ियाँ और कठपुतलियाँ विदेशी संग्रहालयों में भी पहुँच गई हैं। नीचे माँगीलाल रामचन्द्र गणगौर बनाने, कावड़ें कोरने और कठपुतलियाँ कुरेदने में मशगूल हैं। ये लोग बसी के उस परंपराशील काष्ठकारी-घराने के हैं जहाँ की काष्ठकला पहुँची हुई मानी जाती है। यहाँ की बनी गणगौरों ने विदेशों में बड़ा नाम कमाया है। विश्व का प्रथम पुरस्कार पानेवाली कठपुतलियाँ भी यहीं बनी हैं। इनके पास ही श्री उदयप्रकाश लोकरंगी नृत्य-नाट्यों की बहुविध पोशाकें बनाने में लगेहुए हैं। क्या जनाना और क्या मरदाना, प्रत्येक प्रान्त की कलात्मक पोशाकें बनाने में ये बड़े दक्ष होगए हैं। ट्यूनिशिया के अन्तर्राष्ट्रीय लोकनृत्य समारोह में इनकी बनी पोशाकों

ने भारतीय रंगीनियों की अमिट छाप छोड़ी है। फोटो फिल्म विभाग में श्री ईश्वरी भाटी गोविन्दजी के अधूरे अकाल-स्वप्नों को पूरा करने में कृतसंकल्प हैं। रेकार्डिंग विभाग में कुंवर केसरीसिंह पुराने टेप किएहुए गीतों को नया आयाम दे रहे हैं। कठपुतली प्रशिक्षण केन्द्र की कठपुतलियां अजयपाल के प्रशिक्षकत्व में अच्छे परिणामों पर पहुँच रही हैं। राजस्थान की प्रत्येक शिशु-शाला में अब उनके परिवार की एक आवश्यकीय अंग बनती जारही है। लम्बे फैले संग्रहालय में श्री रणछोड़सिंह गाइड के रूप में अपनी बेहतरीन सेवाएँ दे रहे हैं। जमादार जगन्नाथजी ने तो विद्याभवन से ही अपने को सामर साहब के लिए समर्पित कर रखा है।

## बाया और बावा :

सामर दंपति, बाया (श्रीमती सामर) और बावा (सामरजी) को देखते ही बा और बापू की याद हो आती है। बावा कलामंडल के कामों में व्यस्त हैं तो बाया अपने धर्म-कर्म में। वर्ष में आठ महीने साधु-संतों के सत्संग में रहने के कारण बाया का जीवन भी साध्वी-जीवन बन गया है। खानपान, रहनसहन अत्यंत सादा। व्यवहार निश्छल। मन साफ। पूर्ण संयमी। पूर्ण मितव्ययी। पूर्ण स्वावलम्बी। एक बहुत बड़ी संस्था के संस्थापक संचालक की पत्नी होने के गर्व-गुमानभरे कोई चिह्न नहीं। कोई हस्तक्षेप, आक्षेप, आदेश नहीं। न उधो का लेना न माधो का देना।

यह छोटा सा परिवार, केवल दोनों पति-पत्नी, एक नौकर ऊँकारजी और उनकी प्यारी बिल्ली जो सदा ही उनके बिस्तर पर खेलती रहती है; बड़े सुथराये ढंग से एक आदर्श जीवन जी रहा है। ऊँकारजी भी अब इस परिवार से अलग नहीं हैं। इसकी शालीनता, सुखदता और सुरुचिता के पीछे इन्होंने भी अपना घरबारी मोह छोड़ दिया है। बावा के साथ सांसारिक फंदों, उलझनों से उन्मुक्त हो यह अत्यंत भोला साधु-मन भी 'ओंकार' बन गया है।

बाया एक तपस्विनी, एक साधिका, एक मीरां धर्म-धुन की दीवानी। उनका घर राईआंगन। सामरजी एक कीर्ति-पुरुष, कला-कण्व, गहरा फूल गुलाब का। शकुन्तला उनकी छरहरी छालर मोगर गाय। कलानेत्रियाँ किरत्याँ। कलाकार कमल-कुमुद।

## सामरजी की कला और मेरी कलम :

सामरजी, एक ऐसा अनगढ़ व्यक्तित्व जिसे नापने तौलने के लिए मेरी एक कलम की क्या बिसात ? कई कलमें और लिखेंगी कभी। अभी क्या हुआ ? यह

व्यक्ति थका भी नहीं है। कई मंजिलें पार करलेने पर भी और कई मंजिलें पार कर लेना चाहता है। मरण को वरण कर यह कलाकार मृत्युंजयी वन गया है। यूं कलाकार कभी मरा भी नहीं करता। वह एक शताब्दी में जीकर कई शताब्दियों को जीवित कर देता है। सामरजी पूरी शताब्दी नापें और कई शताब्दियों को नापते रहें। उनकी षष्टि-प्रविष्टि पर उन्हें मेरी विनम्र श्रद्धाभरी निष्ठाञ्जलि...... इस विश्वास के साथ कि उनकी कला और मेरी कलम का और......और फिर सभी अन्तर्साक्ष्य होगा। ■

3

# कुंडली और फलितचक्र

मदनमोहन जैन

जन्मांग चक्रम्
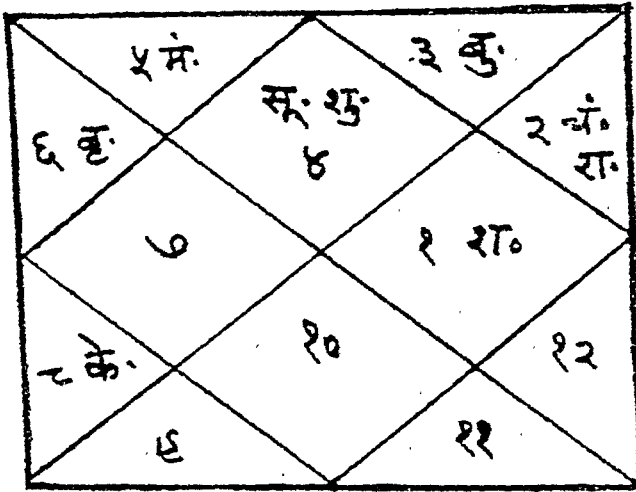
जन्म संवत् – १९६७
जन्म नक्षत्र – कृतिका चतुर्थ वर्ग
इष्ट घटि – १ पल २
सूर्य – ३, १४
लग्न – कर्क

१. सामरजी का जन्म कर्क लग्न में हुआ है। इस दृष्टि से जिस घर में इनका जन्म हुआ वह चित्रकारी कलायुक्त था।

२. शनि राज्यस्थ होने से ये मातृ-दुग्ध से वंचित रहे।

३. सूर्य लग्नस्थ होने से ये आत्मबली, दर्शनशास्त्री, वक्ता, प्रवक्ता एवं अपने क्षेत्र के निष्णात आचार्य होंगे। आस्तिक नास्तिक एवं गायन-वादन तथा नर्तन कला में सिद्धि प्राप्त करेंगे।

४. तैरने के शौकीन, दौड़ने में सिद्धहस्त, मर्मभेदी वाक्य कहने में समर्थ एवं साँवरा रंग लिए होंगे।

५. परोपकारी, वाहनयुक्त, धैर्यवान एवं धनाढ्य होंगे।

६. बुध सिंहवत, प्रतिभाशाली, बाहुबली, प्रज्ञाचक्षु एवं नृपतुल्य विशाल वक्ष:स्थलवाले होंगे।

७. उत्तमकर्मा, दीर्घायु, भूमिपति एवं विचक्षण प्रतिभावाले होंगे।

८. भृत्यवर्ग ईमानदार, सेवाभावी एवं कर्म-कर्तव्यनिष्ठ होंगे।

९. आत्मज्ञ, तत्वज्ञ, मर्मज्ञ एवं स्थिरमना स्वच्छन्दताप्रिय होंगे।

१०. विनोदी, कौतूहलप्रिय एवं अध्यव्यसायी होंगे। जहाँ जायेंगे, सिद्धि पायेंगे। जिस क्षेत्र में काम करेंगे, खून पसीना एक कर देंगे।

११. पारदर्शी सत्यानुसंधान-पटु एवं नवचेतना का शंखनाद फूँकनेवाले होंगे।

१२. जिस माह (श्रावण) में सामरजी का जन्म हुआ है उसी माह में महाकवि तुलसीदास का भी जन्म हुआ है। अत: साहित्यकार एवं रचनात्मक कार्यकर्त्ता होने के विशेष लक्षण हैं।

१३. जिस लग्न में इनका जन्म हुआ है उसी लग्न में मर्यादा पुरुषोत्तम राम, महात्मा बुद्ध, लोकमान्य तिलक, मदनमोहन मालवीय तथा शंकराचार्य का जन्म हुआ है। अत: इन महापुरुषों में जो गुण विद्यमान रहे वे न्यूनाधिक मात्रा में इनमें भी होंगे।

१४. स्वभाव से सौम्य एवं उग्र, लगन के पक्के एवं धुन के धनी होंगे।

१५. उदयकारक वर्ष क्रमश: २५, २८, ३२, ३६, ५८, ५९ तथा ६० रहेंगे।

१६. जीवन के अंतिम समय में उदय ही उदय है। अन्तिम क्षण तक संस्था व कला से अभिन्न संबंध रहेगा।

१७. मनुष्यलोक के किसी धनाढ्य एवं सुसंस्कृत परिवार में पुनर्जन्म होगा।

१८. मरणोपरान्त स्मारक बनेगा। मूर्ति स्थापित होगी। ■

4

# कलाजीवी सामरजी

## हरिभाऊ उपाध्याय

मेरी दृष्टि में मानव-जीवन से विच्छिन्न कला का कोई मूल्य नहीं है। यदि हम अपने विचारक्षेत्र से मनुष्य या मनुष्य-समाज को हटा देते हैं तो कला, संस्कृति, समाज और प्रशासन निरर्थक होजाते हैं क्योंकि हमें जो कुछ भी कहना, लिखना अथवा अभिव्यक्त करना है, वह किसके लिए ? मनुष्य और मनुष्य-समाज के लिए ही तो। मनुष्य और मनुष्य-समाज का भी तो कोई प्रयोजन ही होगा। क्या मनुष्य-जन्म का कोई भी प्रयोजन नहीं ? मनुष्य ने समाज का निर्माण किया, क्या यह निरर्थक है ? इसमें किसी का कोई लक्ष्य नहीं है ? यदि है और वह मेरी राय में है, तो क्या उसको भुलाकर किसी कला का कोई महत्त्व रह सकता है ?

मेरी राय में मानव-जीवन का प्रयोजन उसकी स्वाभाविक इच्छाओं या प्रेरणाओं को देखकर निश्चित करना चाहिए। मनुष्य में ही नहीं, प्राणिमात्र में जीने की, अपने अस्तित्व को कायम रखने की अदम्य भावना व उत्कट प्रेरणा पाई जाती है। इसकी उपेक्षा करके किसी कला का कदम आगे नहीं बढ़ सकता। जो कला मानव-जीवन के अस्तित्व को टिकाये रखने में सहारा देगी, वही उसे ग्राह्य होगी। मनुष्य केवल जीवित रहना ही नहीं चाहता, सुख से जीवित रहना चाहता है। आपत्काल में किसी ऊँचे उद्देश्य हेतु थोड़े समय के लिए वह बड़ा से बड़ा दुख प्रसन्नता से सहने के लिए तत्पर होजाता है। परन्तु कोई स्थिति ऐसी आजाये या समाज की ऐसी व्यवस्था बन जाये जिससे मनुष्य जीवनभर दुख ही दुख उठाता रहे तो वह उसे क़दापि सहन न होगा। मनुष्य उस स्थिति व व्यवस्था को तोड़फेंकेगा। अतएव कला मनुष्य और मनुष्य-समाज के लिए सुखदायिनी होनी चाहिए। एक ओर अदम्य प्रेरणा मनुष्य में यह

पाई जाती है कि वह केवल सुख से ही जीना नहीं चाहता, किसी से दबकर भी रहना नहीं चाहता। वह सदैव स्वतंत्रताप्रिय रहा है। अतएव कला उसकी अदम्यता व स्वतंत्रता की पोषक होनी चाहिए। सुख शब्द में आनन्द, आमोद-प्रमोद, मनोरंजन, हास्य-कौतुक सबका समावेश होजाता है। अतएव मेरी राय में सच्ची कला की कसौटी यह होनी चाहिए कि वह मनुष्य-जीवन के रक्षार्थ सुख-स्वतंत्रता की पोषक हो।

'कला के लिए कला' केवल इसी अर्थ में स्वीकार की जा सकती है कि कलाकार स्वतः प्रेरणा से या अंतरात्मा की पुकार से कला-सृजन करे, किसी व्यापारिक या आर्थिक उद्देश्य से नहीं। इसका यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि कला का मानव-जीवन से कोई संबंध न हो, उसका कोई प्रयोजन ही न हो।

फिर मनुष्य के जितने कार्य हैं, वे केवल अपने ही लिए नहीं, दूसरों के लिए भी होने चाहियें और होते हैं। केवल मुट्ठीभर लोगों के लिए नहीं, बहुजन समाज के लिए होने चाहियें। मनुष्य का जीवभाव उसके स्वार्थ की दिशा और सीमा बांधता है तो उसका शिवभाव व्यापक जनसमाज के मंगल की प्रेरणा करता रहता है। अतः जो कला अपने लिए या थोड़ों के लिए हो, थोड़े ही जिसका लाभ उठा सकें, उसका मूल्य मेरी निगाह में बहुत कम है। उच्चकोटि के कलाकारों का भी स्थान मनुष्य-समाज में है और वह बहुत ऊँचा है। कला में प्रवीणता पाने के लिए उसका सूक्ष्म अध्ययन और अभ्यास बहुत आवश्यक है। परन्तु उनकी कला मेरी राय में तब ही सार्थक हो सकती है जब उसे वे अपने कौशल के द्वारा बहुजन समाज के लिए सुगम व सुलभ बनायें। कला के साथ यह कौशल नहीं है तो मेरी राय में वह कला लगभग वंध्या के समान है।

हमारी इस सुन्दर, मनोरम और दिव्य दृष्टि को प्रकृति या परमात्मा की कला कहा जा सकता है। यदि इस सृष्टि में से, जिसे हम सौन्दर्य कह सकते हैं, वह तत्त्व हटा दिया जाय तो फिर इसे कोई परमात्मा की कला कहेगा ? कृति तो यह तब भी रहेगी परन्तु क्या उसे कलाकृति मान लिया जायगा ?

हमारी इस परम्परागत धारणा से ही यह परिणाम निकलता है कि सौन्दर्यविहीन कृति को कला नहीं कहा जा सकता।

संस्कृत में इसका एक अच्छा उदाहरण दिया गया है। एक ने एक वाक्य कहा—

'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे।' दूसरे ने उसी को दूसरे शब्दों में कहा—'नीरस तरुवर विलसति पुरतः।' यह उदाहरण ही मेरी राय में कला के

स्वरूप पर प्रकाश डाल देता है। पाठक अपने आप पहचान लेगा कि कौनसे वाक्य में कला का दर्शन होता है।

वास्तव में कला विश्लेषण की वस्तु नहीं है, आनन्दानुभव करने की है। मधुरस की तरह वह व्याख्या द्वारा समझाई नहीं जा सकती, चखकर ही रसास्वादन किया जा सकता है। बुद्धि से समझने की नहीं, हृदय से आनन्द लेने की वस्तु है।

कला मानव-हृदय के उच्च, मधुर एवं रमणीय भावों की अभिव्यक्ति है। मनुष्य के पास इन सभी अभिव्यक्तियों का साधन ध्वनि और वाणी, लेखनी और शरीर के अवयव हैं। इन सभी अभिव्यक्तियों को हमने काव्य, साहित्य, संगीत व नृत्याभिनय में बांट दिया। कला की मूल प्रेरणा एक होते हुए भी अभिव्यक्ति के माध्यम भिन्न-भिन्न होने से उसके ये भिन्न-भिन्न नाम रख दिए गए हैं।

देवीलालजी ने लोकनृत्यों के द्वारा अपनी कला और अपने कौशल को राजस्थान के ही नहीं सारे भारत के सामने उस समय प्रस्तुत किया है जब कि लोकनृत्य अभिजातवर्ग में सम्मान्य नहीं थे। जो काम प्रो० राममूर्ति ने व्यायाम के क्षेत्र में, स्व० पलुस्कर और भातखण्डे ने संगीत के क्षेत्र में, उदयशंकर ने नृत्य और चित्रकला के क्षेत्र में अवनीन्द्रनाथ टैगोर ने किया वही काम लोकनृत्य के क्षेत्र में हमारे सामरजी ने किया है। इसलिए वे सब तरह से अभिनन्दन के योग्य हैं। ■

# 5

## सामरजी : मेरे बड़े भाई

डॉ० श्याम परमार

सामरजी के प्रति मेरे मन में बहुत आदर है। बीस वर्ष पहले मैंने उन्हें अपनी मंडली के साथ उज्जैन में आमंत्रित किया था। उस समय मैं विद्यार्थी था और मेरे मन में लोककलाओं के उत्थान की एक कल्पना उभर चुकी थी। साहित्य में लोकसाहित्य के विभिन्न पक्षों पर इन्हीं दिनों खूब लिखा जाने लगा था। लोग 'फैशन' के बतौर ज्यादातर लोककलाओं के प्रति बातें करते। मगर सामरजी ने इस माहौल में बातों के बजाय सही काम हाथ में लिया। उनका कदम उचित था और वे इस बात को लेकर चले कि बिना उपेक्षित कलाओं को मंच पर लाये, उत्थान के प्रश्न को उचित संदर्भ दिया जाना संभव न होगा। इसीलिए मैं उनके प्रति और भी उत्साही था। उन दिनों सामरजी 'मीरामंगल' लेकर उज्जैन आए थे। और भी नाट्य-रूपों की वे तैयारी कर रहे थे। वास्तव में सामरजी ने अपने कलामंडल में प्रारंभ से देश की अनेक संस्थाओं को मार्गदर्शन दिया। इसके लिए हमें कृतज्ञ होना चाहिए।

उसके बाद सामरजी से प्रायः मेरी भेंट होती – कभी दिल्ली में, कभी किसी और शहर में, मीटिंग में, समारोह में। हाथरस में जब जनपदीय परिषद् का समारोह हुआ था तब (डॉ० राजेन्द्रप्रसाद उसके अध्यक्ष और आचार्य नरेन्द्रदेव उसके उपाध्यक्ष थे।) एक सायंकालीन बैठक के बाद की बात है, उसकी स्मृति अब भी है। हम चार व्यक्ति – सामरजी, मैं, देवेन्द्र सत्यार्थी और कृष्णानन्द गुप्त ठहराए गए स्थान से चलकर शायद किसी स्थान के लिए पैदल जा रहे थे। रास्ते में हल्का अंधेरा था। बातें लोकसाहित्य और लोककलाओं के बारे में चल रही थीं। तभी सामरजी ने कहा – 'पैर के ऊपर से कुछ चीज अभी-अभी निकल गई' और हमारे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा कि जब बाजू

में देखा तो वह सर्प था जो उनके चप्पल पहने पैर पर से सरककर आगे जाकर नाली में उतर गया था। कुछ देर के लिए हम सुन्न होगए। पता नहीं सामरजी आज भी इतने एकाग्रचित्त हैं या नहीं। मुझे कल्पना नहीं थी कि यह व्यक्ति कला की चर्चा में इतना खो सकता है कि मौत भी उससे लिपटकर चली जाये......।

इन बीस वर्षों में सामरजी से कई बार मिलना हुआ, और मैंने उन्हें दिनों-दिन अपने कार्य में अधिक डूबाहुआ पाया। उनका आत्मविश्वास बराबर बढ़ता रहा। विरोध की कई परतों को छेदकर सामरजी ने लोककलाओं के सही रूप के लिए सिद्धान्तवादियों के चेलेन्ज को स्वीकारा है।

मैं उनसे जब भी मिला हूँ उन्हें मैंने बहस में उलझाया है। लोककलाओं की रूढ़ मान्यताओं के खिलाफ मैंने हमेशा उन्हें उकसाया और मैंने वैचारिक भूमि पर उन्हें सदैव सहिष्णु पाया। तर्क की कसौटी पर वे सदैव उचित बात को स्वीकार करते रहे हैं। वे खुले मन से बात करते हैं और अपने से छोटे को भी स्पष्ट बात करने के लिए मौका देते हैं। उनमें मैंने एक बालक, युवक और प्रौढ़ व्यक्ति को एकसाथ देखा है। वे कलाकार, रंगकर्मी, साहित्यिक और व्यावहारिक एकसाथ हैं। उन्हें नई बातों से कोई चिढ़ नहीं। पिछले दिनों इलाहाबाद में और बाद में उदयपुर में जब भी मैंने उनके समक्ष लोकसंस्कृति के पुनर्मूल्यांकन के प्रश्न को उठाया तो मैंने पाया, सामरजी ने इस आवश्यकता को गंभीरता से स्वीकार किया है। उदयपुर में हुआ राजस्थान संगीत नाटक अकादमी का लोकनाट्य समारोह इस चिन्तन की एक अभिव्यक्ति था।

सामरजी की सदैव यह मान्यता रही है कि लोककला के प्रत्येक स्वरूप को समयानुकूल परिमार्जित एवं सप्राणित किए बिना लोकोन्नयन का कार्य नहीं हो सकता। यही वजह है कि उन्होंने राजस्थान के कई नाट्य-दलों को अपने यहाँ आमंत्रित कर उनके पारंपरिक स्वरूप को यथावत् रखतेहुए उनमें आवश्यक परिमार्जन-परिवर्द्धन करने की सलाह दी है और इसमें उन्हें अच्छी सफलता हाथ लगी है। इसके सुपरिणाम भी नजर आने लगे हैं। चिड़ावी ख्यालों के सुप्रसिद्ध कलाकार दूलिया राणा ने इस दृष्टि से बड़ा नाम कमाया है।

लोकपरक विधाओं के प्रति अबतक प्रायः भावनाप्रधान दृष्टि से एवं पाश्चात्य विद्वानों के रोमानी सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में विचार किया जाता रहा है। भारतीय भाषाओं में लोकसंगीत, लोकनृत्य एवं लोकनाट्यों के संदर्भ में जो कुछ लिखा जाता रहा है वह उन्नीसवीं शताब्दी के अंग्रेज नृतत्त्व-विशारदों का जूठन है।

राजस्थान के शिक्षामंत्री श्री शिवचरण माथुर को वाढ़ पीड़ितों के सहायतार्थ चैक भेंट करते हुए सामरजी [१९६७]

मारीशस के प्रधानमंत्री श्री रामगुलाम के साथ
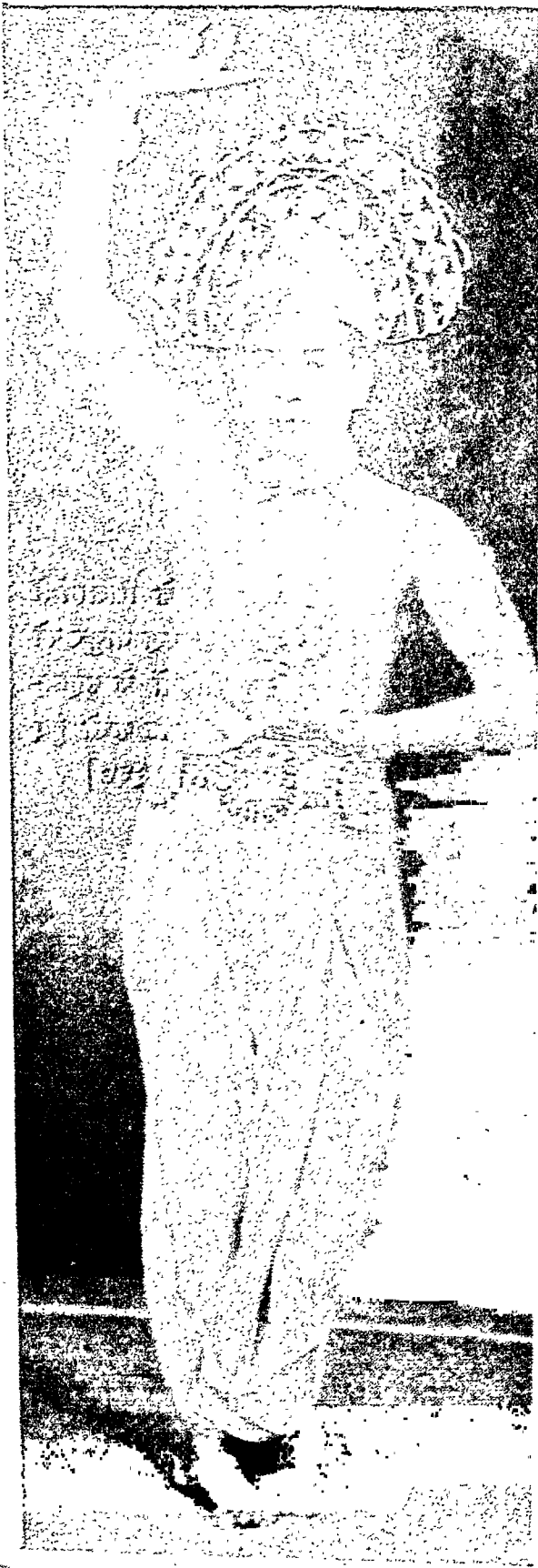
'नगना' नृत्य की मुद्रा में सामरजी [१९५२]

प्रवचन की मुद्रा में सामरजी [१९६८]

भारतीय लोकवार्ता अपने आप में अलग से एक विचारणीय विषय है। अन्य देशों की तरह से यह सम्पदा भारतीय जीवन से अलग छिटक कर नहीं रही है। अध्ययन के संदर्भ में पश्चिम के सिद्धान्तों को आधार मानकर हम प्रायः गलत निष्कर्षों पर पहुँचे हैं।

बीच में एक और वर्ग है जिसका अभिजात्य लोकवार्ता के हित में हमेशा घातक रहा है। उसने मौखिक परम्परा की इस निधि को एकदम अलग और निकृष्ट माना। उसके निकष; जो उत्कृष्ट साहित्य, अभिजात्य संगीत और विशिष्ट मंच के निकष हैं, लोकवार्ता को परखते रहे। गलत पैमानों से मूल्यांकित तथ्यों ने आज तक प्रायः घपला किया है।

इस संदर्भ में सामरजी ने अपनी प्रसिद्ध कृति – 'लोकधर्मी प्रदर्शनकारी कलाएँ' में सर्वथा स्वतंत्र और मौलिक चिन्तन दिया है। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि उन्होंने इस साहित्य को जीया है, इसके उद्‌गमों को देखा-समझा है और इसका उपयोग किस तरह से होना है और इसका कितना अंश वक्त के साथ छूट जाना है, इस पर सोचा है। इस दृष्टि से सामरजी की यह कृति बहुत बड़े अभाव की पूर्ति करती है।

अब तक लोकनाट्य को 'फोक थियेट्रिकल्स' की दृष्टि से ग्रहण करने पर हम अक्सर अपनी निजी सामग्री के साथ न्याय नहीं करपाए हैं। मूलतः अंग्रेजी का 'फोक' शब्द जिस रूप में पश्चिम में प्रयुक्त हुआ है उस रूप में उसका भारतीय जीवन-पद्धति के संदर्भ में प्रयोग अनुचित सा लगता है। लोकनाट्य को लेकर विचार करने पर हम इस शब्द या इस जैसे दूसरे शब्दों के छलावे में असली तत्वों से दूर जा पड़े हैं। क्या यह दुःख का विषय नहीं है कि आज जब भी संस्थाओं अथवा संस्थानों द्वारा इस विषय को लेकर सोचा जाता है तो बात वहीं से शुरू होती है जहाँ वह वर्षों पूर्व थी? सामरजी और उनके भारतीय लोक कला मंडल की भूमिका इसका ज्वलंत उत्तर है।

सामरजी मेरे बड़े भाई की तरह हैं। उन्होंने मुझे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्रेरणा दी है। मैं सदैव उनके प्रति कृतज्ञ हूँ और मेरा मन उनकी हर प्रगति के प्रति अभिनन्दन की स्थिति में सदैव रहेगा। ■

6

# लोकशिल्पी सामरजी

जगदीशचन्द्र माथुर

लोकसांस्कृतिक अभिव्यंजनाओं की स्थिति विश्व के विभिन्न देशों और समाजों के ऐतिहासिक और सामाजिक वातावरण पर निर्भर करती है। भारतवर्ष संधिकालीन समाजों में से माना जाता है यानी ऐसा समाज जो एक ओर तो आर्थिक विकास के लिए प्रयत्नशील है और दूसरी ओर सांस्कृतिक और सामाजिक युग-परिवर्तन का सामना कर रहा है। आर्थिक एवं राजनैतिक प्रगति का एक परिणाम यह भी है कि अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य तेजी के साथ हमारे समाज पर छा रहे हैं। इनसे अछूता रहना संभव नहीं है। ग्रामीण एवं आदिम जातियों के जीवन में जो सौन्दर्य-तत्त्व हैं उनका नवीनीकरण होना भी एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। हर युग में ऐसा होता आया है। किन्तु वर्तमानकाल में एक अभूतपूर्व परिस्थिति पैदा हो गई है। कतिपय ऐसे साधनों के कारण जो इस परिवर्तन की स्वाभाविक प्रक्रिया को एक अस्वाभाविक गति दे देते हैं। गति ही नहीं, ये साधन व्यक्ति के जीवन पर आक्रान्त हो जाते हैं। फिल्म, रेडियो और नूतन यातायात; ये ऐसे साधन हैं जो मानव के इतिहास में इससे पहले कभी उपलब्ध नहीं थे और जिनकी तेजी और व्यापकता को ग्रहण करने के लिए पिछड़े देशों की सामाजिक व्यवस्था पर हठात् दबाव पड़ रहा है। इसलिए युग-परिवर्तन उसी भांति स्वाभाविक प्रक्रिया नहीं है जैसी पहले रहा करती थी। यह एक कृत्रिम दबाव की प्रक्रिया हो गई है।

मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि लोकसंस्कृति को परिवर्तनशील स्वीकार करते हुए यह भी मानना पड़ेगा कि परिवर्तन का क्रम सहज और स्वाभाविक होना चाहिए, किसी दबाव का परिणाम नहीं। चूँकि आधुनिक वातावरण में

दबाव के साधन हैं इसलिए यह जरूरी जान पड़ता है कि लोक सांस्कृतिक रूपों में नये प्रदर्शन-तत्त्वों को ग्रहण करते हुए भी उनके निजत्व को सुरक्षित रखा जाय। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जैसी नीतियों और योजनाओं को अपनाना चाहिए उनमें निम्नलिखित विशेषत: विचारणीय हैं –

लोकनृत्य, नाट्य, संगीत इत्यादि की जो विधाएँ देश के विभिन्न भागों में अभी भी प्रचलित हैं उन्हें परिपुष्ट करने के लिए देश-विदेश में उनके प्रदर्शन की व्यवस्था जो होरही है उसके फलस्वरूप निस्संदेह लोकगायकों और नर्तकों में आत्मविश्वास की जागृति हुई है। उन्हें अपनी कला के प्रति गौरव का आभास हुआ है और चूँकि नृत्य और संगीत उनके दैनिक और सामाजिक जीवन के अभिन्न अंग हैं इसलिए उन्हें अपनी जीवन-पद्धति की सार्थकता भी महसूस हुई है। जवाहरलाल नेहरू ने अखिल भारतीय लोकनृत्य समारोह का प्रवर्तन करके देश की ग्रामीण और आदिवासी संस्कृति और सामाजिक पद्धति को एक नूतन स्फूर्ति और प्रेरणा प्रदान की है। किन्तु समारोहों और विदेशों में प्रदर्शन मात्र से ही लोकनृत्य, नाट्य और संगीत के भविष्य की बुनियाद पुख्ता नहीं हो सकती। ये विधाएँ प्रधानतया स्थानीय और आंचलिक हैं। यद्यपि विभिन्न क्षेत्रों में कुछ अखिल भारतीय विशेषताओं के चिह्न निश्चय ही दृष्टव्य हैं तथापि इन विधाओं का रूप अपने आंचलिक संदर्भ में ही निखरता है। लोक-कलाकारों की आर्थिक अवस्था भी ऐसी है कि यदि उन्हें अपने ही ग्राम्य वातावरण में रहकर अपनी कला का अभ्यास करने का अवसर मिले तो वे अपनी परम्परा को कायम रख सकेंगे। अत: यह आवश्यक है कि मिथिला, राजस्थान, कावेरी, कामरूप, उत्कल, कृष्णा, गोदावरी, कर्णाटक, ब्रजमंडल, हिमाचल, मणिपुर इत्यादि सांस्कृतिक क्षेत्रों में जो दल सक्रिय हैं उन्हें अपने स्थानों में रहते हुए ही अपनी कला को परिष्कृत और प्रदर्शित करते रहने के साधन उपलब्ध होने चाहियें। सरकार तथा अकादमियों का यह कर्तव्य है कि वे इन दलों को अपने-अपने नीड़ का परित्याग करने पर मजबूर न करें। यदि अपने ही परिवेश में उन्हें अपनी-अपनी शैलियों के लिए पोषण की व्यवस्था हो सके तो हमारी लोकसंस्कृति का उपवन ऊजड़ नहीं होगा। ये दल अपने-अपने अंचलों में सक्रिय रहने के लिए अपेक्षाकृत कम आर्थिक सहायता से काम चला सकते हैं।

लोक-कलाकारों को अपनी-अपनी शैलियाँ कायम रखते हुए भी प्रदर्शन की दृष्टि से कुछ प्रशिक्षण की आवश्यकता है। किन्तु ऐसी ट्रेनिंग केवल वे ही लोग दे सकते हैं जो लोककला में दक्ष और उनके भक्त हैं। केवल अध्येता और

कला-विवेकी होने से ही लोक-कलाकारों को निर्देश देने का अधिकार नहीं मिल सकता। ऐसा व्यक्ति प्रशिक्षण अथवा निर्देशन देते समय लोककला की आत्मा और रूप-सौन्दर्य को अक्षुण्ण रख सकेगा। वस्तुत: प्रदर्शन की विशेषताओं से परिचित कराने के अतिरिक्त प्रशिक्षण का एक उद्देश्य यह भी होगा कि वह आधुनिकता के विकारशील प्रभावों से इन शैलियों को बचा सके। बिजली और नाना प्रकार की चमत्कारिक प्रदर्शन-पद्धतियों का प्रभाव कभी-कभी अत्यंत प्रबल होता है। तमिलनाड के मेलातूर गाँव में नृसिंहावतार के भागवतमेल के प्रदर्शन में मैंने कई रंग के भद्दे लैम्पों का प्रकाश देखा जिसने इस पौराणिक लोकनाट्य को सर्वथा विकृत आभा-मंडल दे दिया था। प्रशिक्षण, निर्देशन और परामर्श के लिए संगीत नाटक अकादमी की ओर से कुछ घूमते रहनेवाले विशेषज्ञों की नियुक्ति शायद करनी पड़े। ये लोग अलग-अलग स्थानों में जाकर वहाँ के प्रदर्शनों को देखते हुए और मूल वातावरण को दृष्टिगत रखते हुए अपने सुझाव दे सकते हैं। मंच-व्यवस्था के लिए ऐसे सुझावों की विशेष आवश्यकता है।

हमारे देश के विभिन्न भागों में आंचलिक उत्सवों, मेलों और प्रदर्शनों की परम्परा रही है। यह परम्परा कुंठित हो चली है अत: यह आवश्यक है कि आंचलिक प्रदर्शनों को व्यवस्थित रूप दिया जाय। अमेरिका और यूरोप में छोटे-छोटे ग्राम भी अपने यहाँ यात्रियों और कलाप्रेमियों को खींचने के लिए स्थानीय उत्सवों का आयोजन करते हैं। कनाडा जैसे आधुनिक देश में भी स्ट्रेटफोर्ड नाम के गाँव में पिछले दस-बारह वर्षों में एक विशाल शैक्स्पीयर नाट्य समारोह की परम्परा कायम हो गई है। जर्मनी, फ्रान्स, ब्रिटेन आदि नगरों में ऐसे अनेक नवीन स्थानीय उत्सव आयोजित किए जाते हैं। आधुनिक भारत में सांस्कृतिक प्रोग्राम के नाम पर कुछ खिचड़ी किस्म के प्रदर्शन करने का रिवाज होगया है। प्राय: इन सांस्कृतिक प्रोग्रामों में भाषणों को प्रमुख स्थान दियाजाता है। इनका स्थानीय लोकसंगीत और नृत्य की परम्परा से विशेष संबंध भी नहीं होता। ऐसे सांस्कृतिक कार्यक्रमों के स्थान पर सूझबूझ और सहृदयता के साथ लोकपक्ष पर आधारित सांस्कृतिक उत्सवों का आयोजन होना चाहिए। ब्रजमंडल, मिथिला, राजस्थान, मालवा, सौराष्ट्र, कर्नाटक इत्यादि अंचलों में अनेक ऐसे मंडल हैं जहाँ कलात्मक उत्सवों के आयोजन द्वारा देश-विदेश के यात्रियों को आकर्षित किया जा सकता है।

लोकसंगीत और नृत्य को वर्तमान नागरिक जीवन में समन्वित करने के लिए भी हमें कुछ कदम उठाने चाहियें। मध्ययुग से अंग्रेजों के राज्य के अंत

तक भारतवर्ष में नागरिक संस्कृति का कुछ ऐसा रूप हो गया जिसमें संगीत-प्रकोष्ठ अलंकरण (चेम्बर एंटर्टेनमेंट) मात्र बन कर रह गया। नृत्य भी अभिजात वर्ग के मनोरंजन के लिए व्यवसाय बना। नाट्य-प्रदर्शन की परम्परा गायब होगई। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद जीवन में एक नये सांस्कृतिक उल्लास के चिह्न प्रकट हो रहे हैं। आजकल के युवक और युवतियाँ नृत्य और संगीत को अपने सामाजिक जीवन का एक सामान्य अंग बनाने के लिए आतुर हैं। वे बंधन जो इस प्रवृत्ति को मध्ययुग और अंग्रेजी राज्य के समय में अवरुद्ध रखते थे अब नहीं हैं। किन्तु चूँकि सामुदायिक गीत और नृत्य की परम्परा ही हमारे नागरिक जीवन से गायब होगई थी इसलिए वर्तमान युवक और युवतियाँ अक्सर पाश्चात्य समाज से ही ये उपकरण प्राप्त कर रहे हैं।

हमारे समाज और राजनीति के गण्यमान्य व्यक्ति वे हैं जिनके संस्कार सामाजिक प्रतिबंधों के युग में निर्मित हुए थे। अतः वे लोग नई पीढ़ी के गीत और नृत्य की उठती मांग के बारे में कोई नेतृत्व नहीं दे पा रहे हैं। किन्तु इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए पर्याप्त दिशा-निर्देशन लोकसंस्कृति में उपलब्ध है। हमारे लोकनृत्य और संगीत के प्रचुर भण्डार में से अगणित रत्न सामाजिक जीवन की इस नवीन आवश्यकता को पूरा कर सकते हैं। राजस्थान, हिमाचल, सौराष्ट्र, मालवा एवं कतिपय आदिवासी जातियों के नृत्य निश्चय ही परिष्कृत रूप में आधुनिक नगरों की क्लबों और सामाजिक उत्सवों में व्यवहृत हो सकते हैं। यहाँ मेरा आशय मंच पर प्रदर्शित होनेवाले नृत्य और संगीत से नहीं है। मेरा मतलब है—बालरूम डांसों और नाना प्रकार के उन पाश्चात्य सामूहिक गीतों से; जिनका आजकल नगरों में प्रचलन है। इनके स्थान पर लोकनृत्य और संगीत को थोड़ा बहुत परिवर्तित रूप में अपनाया जा सकता है। वस्तुतः इनमें से कुछ नृत्य और गान आधुनिकतम बीटल नृत्य और गीतों से कम त्वरित नहीं हैं। केवल शब्द आधुनिक देने होंगे और वर्तमान साजों के अनुरूप इन्हें ढालना होगा।

यदि हम अपनी लोकसंस्कृति की सम्पन्न धरोहर और नागरिक जीवन के नवीन उल्लास के बीच संबंध स्थापित करने में ढील दिखायेंगे तो नागरिक युवा समाज पाश्चात्य गान-नृत्य में ही लय, तान और ताल की बढ़ती उमंग के लिए अभिव्यंजनाएँ खोजेगा। मुझे पाश्चात्य या अफ्रीकी या दक्षिणी अमरीकी धुनों या नाच के ग्रहण करने में सिद्धांततः कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु जिन गुणों के कारण ये नाच और गान नई पीढ़ी के युवक-युवतियों को मनमोहक

प्रतीत होते हैं वे भारतीय लोकनृत्य और संगीत में पहले से ही मौजूद है। उन्हें वर्तमान शहरी समाज में व्यवहार के योग्य बनाकर प्रस्तुत करने और लोकप्रिय बनाने की आवश्यकता है।

लोकसंस्कृति के उपादानों को पाठशालाओं, विद्यालयों और विभिन्न शिक्षा-संस्थानों के कार्यक्रम का अंग बनाया जाय। हमारी शिक्षा-पद्धति की अनेक प्रकार की कमियों पर टीका-टिप्पणी होती रही है। किन्तु एक कमी ऐसी है जिसका दुष्प्रभाव विशेषतः स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद ही इसलिए प्रकट होरहा है कि शिक्षा का प्रसार जनसाधारण में और विशेषतः उन वर्गों में हुआ है जिनकी अपनी लोकसंस्कृति की परम्पराएँ, संस्कारगीत, रीति-रिवाज कलाएँ, समूह-नृत्य इत्यादि अभी भी कायम हैं। इन परिवारों के बच्चे विद्यालयों के कार्यक्रमों में लोकोत्सव, लोकगान और नृत्य का लेशमात्र भी अस्तित्व न देखकर एक प्रकार के आत्मद्वन्द्व के शिकार होने लगे हैं। जो रंगीन रज्जुएँ उनके व्यक्तित्व को बांधे हुए हैं वे ही छिन्न-भिन्न होने लगी हैं। विद्यालयों में अध्ययन के अतिरिक्त जो पाठ्येतर कार्यक्रम (एक्स्ट्रा-करिकुलर एक्टिविटी) होता है उसका संबंध आसपास की लोकसंस्कृति से नहीं होता है। गीत हैं तो किताबी शैली में और उपदेशात्मक। नृत्य के नाम पर ड्रिल है तो कला के नाम पर ड्राइंग। उत्सवों के दिन छुट्टी तो होजाती है पर तत्संबंधी न तो कथाएँ और न गीत-नृत्य-संस्कारों का विधान किया जाता है। कुछ स्कूलों में शास्त्रीय संगीत और नृत्य की शिक्षा हो जाती है किन्तु ऐसे प्रशिक्षण से लाभ इनेगिने छात्र ही उठा सकते हैं। सामान्य छात्र-समुदाय के बीच ताल, लय और रंगीनियों के उल्लास का संवर्धन करनेवाली विधाएँ तो लोकसंगीत और नृत्य ही हो सकते हैं और इनका प्रयोग लोकोत्सवों इत्यादि के माध्यम से ही होना संभव है। उत्सवों द्वारा विद्यालय और परिवार के बीच तारतम्य स्थापित हो सकता है। परिवेश और विद्या-केन्द्र के बीच भी खाई पाटी जा सकती है। संधिकालीन समाज में विशृंखलता और अनुशासनहीनता का उपचार है—सामाजिक संस्कार और संस्कृति का व्यक्तिगत विकास के साथ समुचित तालमेल। दूसरे शब्दों में—शिक्षा को उसके संकीर्ण अध्ययनमूलक दायरे से उठाकर समाज के विविध कार्यकलापों के क्षितिज तक विस्तृत करना होगा।

लोकसंस्कृति के वर्तमान जीवन के समन्वय की जो रूपरेखा मैंने ऊपर प्रस्तुत की है संभव है लोकजीवन के गवेषकों को इसमें कुछ खतरा जान पड़े। अनेक विद्वान् लोकनृत्य और लोकसंगीत के मौलिक रूप में तनिक हेरफेर भी

नापसंद करते हैं और कुछ तो यह भी नहीं चाहते कि उनका मूल परिवेश से बाहर प्रचार हो। वे लोग तो बस इतना चाहते हैं कि लोकगीतों का यथातथ्य रेकार्डिंग कर लिया जाय, लोकनृत्यों के मूलरूपों के फिल्म बना दिए जायँ, उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि से सम्बद्ध सामग्री एकत्र करली जाय, लेकिन कलाकारों और उनकी कला के पोषण और संवर्धन की व्यवस्था हो या नहीं, इससे उन्हें कोई मतलब नहीं है। ऐसे विद्वान् उस माली के समान हैं जो अपने गुलदस्तों की शोभा के लिए खिले फूलों का चयन तो भलीभांति करता है किन्तु पौधों की जड़ों को न तो खाद देना चाहता है और न जड़ों के आसपास की मिट्टी को उलट-पलट कर बाहरी हवा और पौष्टिक तत्त्वों की उनतक पहुँच ही होने देना चाहता है। गुलदस्तों के फूल मुर्झाते देर नहीं होती और अनुसंधान और गवेषणा की उपलब्धियाँ भी ग्रन्थागारों की धूल में खो जाती हैं। प्राणवान रह सकती हैं लोककलाएँ ही, बशर्ते कि उन्हें व्यवस्थित पोषण मिलता रहे।

श्री देवीलाल सामर ने वर्तमान सामयिक जीवन से समन्वय कर इन कलाओं की अपनी पारम्परिक पृष्ठभूमि में नया आकलन दिया है। उन्हें पुष्पित, पल्लवित और फलदायिनी बनाया है। साथ ही उन्होंने आगे आनेवाली पीढ़ियों के लिए भी एक मार्ग बना दिया है जिसके कारण इन कलाओं को श्रीहीन होने से बचाया जा सकेगा। उनका कृतित्व और व्यक्तित्व केवल इसलिए स्तुत्य नहीं है कि वे लोककलाओं में पारंगत हैं और उन्होंने राजस्थान की अनुपम और रसवन्ती परम्पराओं को देश-विदेश में उजागर किया है। मैं तो उनका इसलिए भी अभिनन्दन करता हूँ कि वे लोककलाओं का समसामयिक जीवन से समन्वय करने में विश्वास रखते हैं। लोकसंस्कृति के शुद्धातिशुद्ध और निर्लेप रूप का आकर्षण विद्वानों को अक्सर रहा है। किन्तु जो रसज्ञ संस्कृति को कालावधि में संकुचित नहीं रखना चाहते वे लोकसंस्कृति की सतत प्रवहमान धारा ही में उसकी मौलिकता और शुद्धता मानते हैं। श्री सामर के इस व्यापक और उदार दृष्टिकोण का अखिल-भारतीय संदर्भ में जो विशिष्ट महत्त्व है उसे विस्मृत नहीं किया जा सकता। ■

# सृजन के क्षणों में सामरजी

- कवि
- गद्यकाव्यकार
- कहानीकार
- नाटककार
- कठपुतली-नाट्य-प्रयोक्ता
- नृत्य-नाट्य-प्रणेता
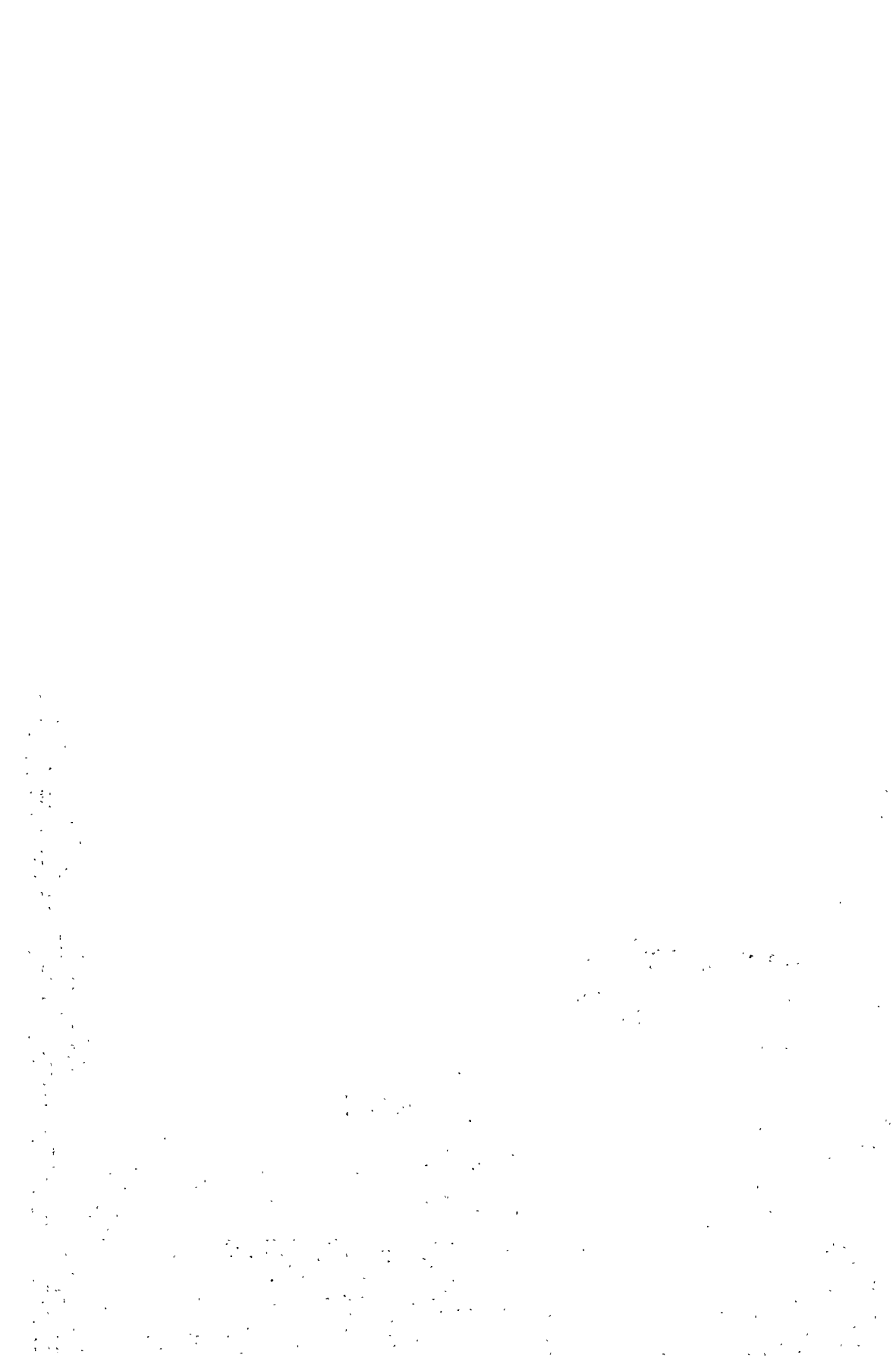
1

# कवि

डॉ० नरेन्द्र भानावत

श्री देवीलाल सामर लोक-कलाकार के रूप में तो प्रसिद्ध हैं ही, उनका कवि-रूप भी कम प्रभावक नहीं है। सन् १९३५ से लेकर सन् १९४६ तक का काल सामरजी के लिए 'साहित्य-सर्जन' का काल रहा है। इस अवधि में उन्होंने अध्यापकीय जीवन जीते हुए सैकड़ों कविताएँ एवं गद्यगीत लिखे।

सामरजी की कविताओं का अध्ययन करते समय यह प्रश्न सहसा मन में कौंध जाता है कि कवि सामर और लोकसंस्कृति के उजागर सामर के बीच कौनसी वह भाव-रेखा है जो दोनों को जोड़ती है। क्योंकि दोनों के दृष्टिकोण में काफी फासला है। कवि सामर सौन्दर्य, प्रेम और रहस्य का पुजारी होने के कारण आत्मकेन्द्रित है। वह रहस्यलोक में विचरण करता है, छाया के साथ आँखमिचौनी खेलता है और प्रेम के मीठे-कड़वे छींटों से निरंतर भीगा हुआ रहता है। प्रेमलोक से वह बाहर नहीं जाता। संघर्षों, संकटों और मुसीबतों से मुकाबला करने की बात वह कहता भी है तो प्रेम के दायरे में बंधकर ही जबकि लोकसंस्कृति के क्षेत्र में कार्य करने वाला सामर लोकजीवन के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आता है। धरती की गंध उसे सर्वाधिक प्रिय है। वह उपेक्षित समझे जानेवाले प्राणों को गले लगाता है, उनकी लोकधर्मी प्रदर्शनकारी कलाओं की बारीकियों का अध्ययन करता है और उन्हें सराहता-सँवारता है।

इन दो विरोधों से प्रतीत होनेवाले व्यक्तित्व को जोड़नेवाली कोई शक्ति है तो वह है सामरजी की सर्जनात्मक प्रतिभा और तज्जनित लोकधर्मिता। यह शक्ति कविता के क्षेत्र में तो नए मूल्य प्रतिष्ठित नहीं कर सकी, गतानुगतिक आदर्शों का पालन और परम्परा का निर्वाह ही करती रही, पर कला के क्षेत्र

में यह शक्ति नई मूल्य-दृष्टि अवश्य स्थापित कर सकी। इसके कारण ही सामरजी लोककला के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य कर सके।

सामरजी मूलतः प्रेम और रहस्य के कवि हैं। उनका यह कविरूप छायावादी युग की देन है। उन पर प्रसाद, पंत, बच्चन और महादेवी की विचारधारा तथा शैली का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। सामरजी काव्य को कवि के हृदय से निकली हुई भाव-प्रवाहिनी का प्रकृत और उन्मुक्त रूप मानते हैं। 'पारिजात' की भूमिका में उन्होंने उसे स्वीकार करते हुए लिखा है कि- 'जिस प्रकार एक नदी अपने उद्गम-स्थान से पर्वतों और घाटियों में उछलती, कूदती, इठलाती अपने प्रकृत अल्हड़पन में वहती हुई एक विचित्र संगीत की सृष्टि करती है उसी तरह काव्य भी कवि के हृदय से निकली हुई भाव-प्रवाहिनी का प्रकृत और उन्मुक्त रूप है। समतल भूमि पर पहुँचने पर उसका वेग निश्चित दिशा में, स्वर व्यवस्थित और आकार अलंकृत होता है। इसी प्रकार कवि के भाव भी छंदवद्ध होकर एक सरस एवं सुन्दर काव्य का रूप धारण करते हैं।'

सामरजी की कविता की मुख्य प्रवृत्ति प्रेम है। प्रेमभावना के साथ क्रान्ति-तत्त्व भी कभी-कभी दिखाई देता है। यह क्रान्ति-तत्त्व ही उन्हें प्रगतिशीलता की ओर प्रवृत्त करता है।

सामरजी ने अपनी कविताओं में जिस प्रेम-तत्त्व का निरूपण किया है वह सात्विक और मधुर है, उसमें वासना या उन्माद के लिए कोई स्थान नहीं। कवि ने स्थान-स्थान पर अपने को प्रेयसी और प्रियतमा के रूप में देखा है, उसमें अहं या अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष नहीं है, अशेष समर्पण और विसर्जन की भावना ही प्रमुख है। कवि कभी अपने मन को 'प्रियतमा की दीपशिखा' वनने के लिए प्रेरित करता है–

मन ! प्रियतम की दीपशिखा वन।
जलने में ही तेरा गौरव
वुझ जाने में समझ पराभव
तू न जला किसको भी, पर तू स्वयं जलादे रे अपनापन॥

ईर्ष्या-डाह से रहित प्रेम का यह आत्मवलिदानी स्वरूप स्पृहणीय है। अपने को विसर्जित करने में ही शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति है– 'जलने में ही दीपशिखा का उज्ज्वल होता है कलुषित तन', कभी 'प्रिय के पद की तू रजकण वन' जैसी भावना व्यक्त करता है तो कभी 'मैं प्रियतम की सुन्दरता हूँ' कहकर अपना परिचय देता है।

प्रेम के नानाविध मनोभावों की अभिव्यक्ति प्रकृति के माध्यम से हुई है। प्रिय-मिलन का पूर्वाभ्यास-सूचक प्रकृति का यह रूप देखिए –

चमक रही है विद्युत प्रतिपल आज क्षितिज पर,
तृपित नयन से झाँक रहे अँकुर भी ऊपर।
आज वियोगिन वसुधा के फिर भाग्य खुलेंगे,
बोल रहे सखि मोर, आज बादल बरसेंगे ।।

प्रकृति सौन्दर्य-उपादान बनकर भी आई है। संध्या अपने कोमल हाथों से प्रिय का शृंगार करती है –

संझा ने निज मृदु हाथों से प्रिय के चरण सजाये।
मृदुल तूलिका से रंग भरकर सुन्दर चित्र बनाये ।।

आकाश में घिरे बादलों को देखकर प्रिय की स्मृति भी हो आती है –

सखि, अब घिर आए घनश्याम,
आज कब आयेंगे घर श्याम ?

और कभी इन्हीं बादलों को देखकर विरह-भाव अधिक तीव्र हो उठता है –

सखि, जब चले गये घन श्याम,
आज तब आये हैं घन श्याम।

प्रिय-मिलन के उल्लास का क्या कहना ! कवि की आत्मा प्रकृतिमयी हो उठी है–

सखि, मैं प्रिय-संग नाचूँगी।
उषा के नव रंगों में घोल
दिवस की सित चादर पर ढोल
साँझ की पीतवर्ण पलकों में निशि का अंजन आंजूँगी ।।
कुसुम कलियों का मेरा देह
खोलकर आयें जब प्रिय गेह
पलक पथ पर प्रिय के पदपद्म पाँखुरियों से मैं पोंछूँगी ।।
चहक चिड़ियों का मधुमय गान
भ्रमर-रव उसकी सुन्दर तान
नवल कलियों के घुंघरू बांध पवन की लय पर थिरकूँगी ।।

सामरजी की कविता प्रतिक्रियावादी नहीं है। उसमें नवीनता के प्रति आग्रह और प्राचीन जड़-संस्कारों के प्रति आक्रोश और विद्रोह के स्वर मुखरित हैं –

संस्कारी ये परम्पराएँ
वूढ़े जग की ही शोभाएँ
अन्दर-वाहर यहाँ क्रान्तियाँ जीवन से खेला करती हैं।
यहाँ जवानों की वस्ती है ॥

धर्म-ग्रन्थ निर्जीव मूर्तियाँ
मस्जिद मठ की कुटिल युक्तियाँ
सदा हमारी युवा वृत्तियाँ इनसे सठियाती रहती हैं।
यहाँ जवानों की वस्ती है ॥

आकाश में चमकते हुए चाँद-सितारों को देखकर कवि का मन प्रश्न करता है—

जग के झँझट से घवराकर
क्यों भागे तुम जग से ऊपर ?
जग की तिमिर निशा में तुमसे स्निग्ध ज्योति का ऋण मांगूँगा।
चाँद-सितारों से पूछूँगा ॥

आकाश के नक्षत्र कवि की रहस्य-भावना के प्रतीक न रहकर यहाँ कठोर कर्म-शक्ति के वाहक वन गए हैं। उन्हें धरती पर आकर अपनी स्निग्ध ज्योति का प्रकाश वितरित कर ऋण-शोधन करना होगा।

कवि आशावादी है। उसे विश्वास है कि शोषित, पीड़ित और दलित मानव की स्थिति वदल कर रहेगी। पर इस परिवर्तन के लिए संघर्ष करना होगा—

वह रहे जो अश्रु आँखों से कभी अँगार होंगे।
पिस रहे जो पाँव के नीचे कभी पर्वत वनेंगे ॥

कवि के उद्वोधन में सामूहिकता का स्वर है और है अदम्य विश्वास का अटल स्थैर्य—

हम तुम हैं जव साथ निरंतर
दुख सुख में फिर क्या है अंतर ?
जो भी विपदाएँ आवेंगी
दूना साहस भर लावेंगी
भावी की चिन्ताएँ तजकर एक वार सव शक्ति लगादो।
वीच उदधि में नाव वहादो ॥

2

# गद्यकाव्यकार

डॉ० नरेन्द्र भानावत

कवि सामर का ही दूसरा रूप गद्यकाव्यकार सामर का है। दोनों में कथ्य की दृष्टि से ऐसा भेद परिलक्षित नहीं होता जैसा कवयित्री महादेवी और गद्यकार महादेवी में। सच तो यह है कि छन्द के बंधन से भावोन्माद को मुक्त करने के लिए ही कवि सामर ने गद्य को अपना माध्यम बनाया है। उन्होंने 'अन्तर्मन' की भूमिका में स्वयं लिखा है – 'काव्य जब छन्द का बंधन तोड़कर उन्मुक्त बहने का माध्यम ढूंढ़ता है तो गद्य अनायास ही उसका वाहक बन जाता है। अन्तर्मन के उद्वेग जब कोई समाधान नहीं पाते तो अनायास ही ऐसे तत्त्वों का आधार पकड़ लेते हैं जिनका विश्लेषण बुद्धि की ताकत से परे है।'

इससे स्पष्ट है कि सामरजी के गद्यकाव्य में उनका हृदयपक्ष ही प्रधान रहा है।

कविता की भांति उनके गद्यकाव्य में भी रहस्यात्मकता, कौतूहलवृत्ति, प्रेमभावना, प्रगतिशीलता आदि के सहज दर्शन किए जा सकते हैं। सन् १९३६ से लेकर सन् ४६ तक इनके विविध गद्यकाव्य विशाल भारत, माधुरी, हंस, वीणा, तरुण, योगी, आर्यावर्त, कर्मवीर, नवजीवन, सुधा, विश्वमित्र, नव राजस्थान, अर्जुन, रियासती, जनपथ, जौहर, नवभारत आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। इसके बाद इनका सृजन अवरुद्ध होगया और इनकी रचनात्मक प्रतिभा लोककला और लोकसंस्कृति के उद्धार में लग गई। कई वर्षों बाद सन् १९६७ में अपने स्वर्गीय पुत्र गोविन्द की पुण्यस्मृति का स्पर्श पाकर इनका रचनाधर्मी मन 'अन्तर्मन' में फूट पड़ा और यह निधि सामरजी के 'जीवन का उपहार' बन गई।

सामरजी के अधिकांश गद्यकाव्य (इनके समस्त गद्यकाव्य सात कापियों में लिपिबद्ध हैं।) प्रिय को समर्पित हैं। यह प्रिय सामान्य न होकर असाधारण है। यह विराट्, भव्य और उदार है। यह मधुर भी है और भीषण भी। 'महा गंभीर जलधि के वक्षःस्थल पर ताण्डव करनेवाली भीषणता।' इसी भीषणता से लेखक का निवेदन है – 'मुझे भी तेरे ताण्डव का चिरसंगी बनाकर महासागर के अंतरतम प्रदेश में इस प्रकार ले चल कि मेरा यह क्षुद्र पोत भी न टूटे और मैं अपनी निश्चल अवस्था से भी न हिलूं।'

प्रिय का प्रभाव सर्वत्र व्याप्त है – 'उषा की आँखों में जो मादकता दिखती है वह तेरा ही सौन्दर्य है। अनन्त सागर की उद्वेलित लहरों पर जो चंचलता खेलती है वह तेरा ही संगीत है। घोर ववण्डर में जो विध्वंस-गान होता है वह तेरा ही संगीत है। झुमुर-झुमुर वर्षा में जो वेणु बजती है वह तेरा ही संगीत है।'

यह प्रिय लेखक के साथ एकमेक है। उससे कभी अलग हुआ ही नहीं। उसका प्रिय तो सहज प्रश्न है – 'मेरे मानस में तुम कब न थे?' और अनुभूति प्रवण उत्तर है –

'मेरे शैशव में तुम उल्लास थे, मेरे यौवन में तुम प्यार थे और मेरी जरा में तुम पीड़ा थे।'

'मेरे स्वप्नों के तुम नायक थे, मेरी जागृति में तुम चेतना थे और सुषुप्ति में तुम छाया थे।'

मानववाद और रवीन्द्र के दर्शन से प्रभावित होकर सामरजी ने अपने गद्यकाव्यों में गरीबों और पीड़ितों की सेवा तथा सच्ची श्रमशीलता को ही ईश्वरोपासना का एक प्रकार स्वीकार किया है। उनके लिए श्रम ही ईश्वराराधना है। संतप्त प्राणियों का प्यार ही ईश्वर से प्यार है –

'मैं तुम्हें प्यार करूं या इन संतप्त प्राणियों को? वह प्यार तुम्हीं तक पहुँचता है क्योंकि तुम भी इन्हीं प्राणियों के बीच कहीं कंकड़-पत्थर के पथ पर विचरते हो और अपनी संतति को आशीर्वाद और प्रेम का आश्वासन देते हो।'

इनका ईश्वर धनवानों का ईश्वर नहीं है। वह दुर्बल, कृश, कुरूप, जर्जर मानवों का ईश्वर है। उनकी टूटी-फूटी झोंपड़ियों में उसकी मूर्ति प्रतिष्ठित है।

सामरजी ईश्वर का भिक्षुक के रूप में ही अपने (भिक्षुक) द्वार पर स्वागत करते हैं –

गीत

अश्रुओं से चरण धोऊँ
आज स्मृतियाँ उमड़ आईं
नयन-नीड़ों में समाईं
उड़ न जावें, बाँध उनको सजल मालामें पिरोऊँ

प्रेम मेरा अमर हो प्रिय
सतत मेरे ही बसो हिय
स्निग्ध स्मित सेही तुम्हारे प्राण दीपकमें सजोऊँ

हृदय पर जो चित्र अंकित
वही मेरा विश्व परिचित
क्यों न मैं अनुकूल उसके मिलन-सुधि के बीज बोऊँ

तुम गये थे आ गये क्या ?
यह न सुधि मुझको रही हा।
मिलन के मृदु हर्ष को मैं विरह में क्यों व्यर्थ खोऊँ

आज उरमें मधुर मर्मर
होरहा फिर क्यों विकल उर
नृत्य मय प्रिय के थकित पद अश्रुओं से क्यों न धोऊँ
अश्रुओं से चरण धोऊँ

५ दिसंबर १९४१ देवीलाल सामर

[ सामरजी की हस्तलिपि का एक नमूना ]

तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय कठपुतली समारोह के लिए विदाई की वेला में सामरजी अपने कठपुतली कलाकारों के साथ [१९६५]

राष्ट्रपति डॉ० जाकिर हुसैन सामरजी को 'पद्मश्री' प्रदान करते हुए [१९६६]

'भिक्षुक के द्वार पर आज तुम्हारे स्वागत का यह निराडम्बर उत्सव है।

मेरी झोंपड़ी के ये टूटे-फूटे छप्पर आज तुम्हारे स्वागत में सतत झर रहे हैं और मेरा निरन्तर टिमटिमाता हुआ दीप अपना रिक्त कोष भरने को सीधा जलने लगा है।

तुम भिक्षुक के द्वार पर मेरे अधीश्वर! एक भिक्षुक बनकर आये हो?'

सामरजी के गद्यकाव्यों में जिस जीवन-दर्शन का निरूपण हुआ है वह आस्था और विश्वास जगाकर संघर्षों से मुकाबला करने की प्रेरणा देता है। उन्होंने अपने को 'युगों का यात्री' माना है जो नाना प्रदेशों और स्थितियों में संचरण करता है पर उसका लक्ष्य है –

'मुझे इन तीव्र चट्टानों, इन प्रचण्ड लहरों और इन विकराल थपेड़ों से लड़ने ही दो, प्राची के उस धुंधले द्वार को तोड़कर प्रकाश की प्रचण्ड बाढ़ आने दो, क्षितिज के उस शान्त वायुमंडल से एक और बवण्डर उठने दो।'

इस संघर्ष से ही सच्चे प्रेम और सहकार का भाव उद्भूत होता है, क्योंकि लेखक की दृष्टि में 'यह अस्थि-मांस का शरीर मेरा नहीं जिस पर सदा लालसाएँ, इच्छाएँ और आसक्तियाँ लपलपाते कुत्तों की तरह ताक मारे बैठी रहती हैं और अवसर पाने पर हड़पकर उन नारकीय वासनाओं में भ्रमण कराती हैं, जहाँ जीवन का स्वर्गीय आलोक गहन कालिमा और कुत्सित भावनाओं में लुप्त होजाता है।'

उसका जीवन तो उस दीप की तरह है जिसमें सतत चार लौ जलती रहती हैं – 'एक वह जो मुझे प्रकाश देकर मेरा पथ प्रशस्त करती है, एक वह जो मेरे अंतर में राग-कलिकाएँ विकसित करती है, एक वह जो इस निखिल विश्व के असंख्य प्राणियों के बीच एक महाशक्ति की झलक दिखाती है और एक वह जो मेरे धुंधले और नैराश्यपूर्ण भविष्य में मृत आशाओं को पुनर्जीवित करती है।'

शैली की दृष्टि से सामरजी के अधिकांश गद्यकाव्य कथात्मक और संलापशैली में लिखे गए हैं। प्रतीकात्मकता और विरोधाभास उनकी अन्यतम विशेषता है।

सामरजी को जो प्रतीक विशेष प्रिय रहे हैं उनमें मुख्य हैं – दीप, सितारे, वसन्त, वीणा, बादल, फूल, मोती, उपवन, माली, खिलौना, सरिता, सागर, आकाश, उषा, संध्या, चन्द्र, सूर्य आदि। यहाँ दो उदाहरण दृष्टव्य हैं –

## १. उपवन (संसार) और माली (ब्रह्म)

'तुम्हीं इस उपवन के माली हो। उसको तुम कब नित्य आकर अपने सुकोमल हाथों से सींचते हो ? पतझड़ के समय भी सूखी शाखाओं पर कब किशोर मंजरियाँ लगा जाते हो ? सुबह अंधकार का दामन थामकर प्राची के एक सूने कोने में कब ये स्नेहमय रंग छिड़क जाते हो और कब दुपहरी की मरुभूमि को शृंगारमयी संध्या में सुन्दर बना जाते हो ?

हमारी वाटिका के ये बहुरंगी दृश्य तुम्हारे ही स्नेह के विविध छाया-रूप हैं, जिन्हें हम प्रत्यक्ष देखते हैं पर उनमें हमारा तनिक भी हाथ नहीं है।'

## २. सांध्यकालीन बादल (स्नेह का प्रतिदान)

'बादल जब अपने उर से समस्त स्नेह ढुलका देते हैं तब संध्या की सुधामयी रंगस्थली में उनका स्वागत होता है और अपना कलुषित और करुण जीवन छोड़कर वे इन्द्रधनुप से प्यार करते हैं और चाँदनी से स्नान कर नक्षत्रों से खेलते हैं।

वैभवहीन अवस्था में उन्होंने अपने स्नेहदान का क्या ही सुन्दर प्रतिदान पाया है!'

सामरजी की भापा में एक विशेप प्रकार का प्रवाह और नाद-सौन्दर्य है। उपमा, रूपक और विरोधमूलक अलंकारों के प्रयोग से उसमें और निखार आगया है।

आज सभी क्षेत्रों में जिस तेजी के साथ विघटन होरहा है उसके परिप्रेक्ष्य में चाहे इन रचनाओं को विशेप रुचि के साथ न पढ़ा जाय पर सामरजी के साहित्यिक जीवन में इनका ऐतिहासिक महत्त्व अवश्य है। ■

3

# कहानीकार

**डॉ० विश्वम्भर व्यास**

सामरजी के व्यक्तित्व और कृतित्व के विविध आयामों का आकलन उनके रचनात्मक लेखन से पूर्णता को पहुँचता है। साहित्य की कतिपय अन्य विधाओं में अपनी लेखनी का वर्चस्व स्थापित करने के साथ-साथ उसकी सशक्त विधा कहानी से भी ये अपने को विमुख नहीं कर पाए हैं। अपनी पैनी सूझ और गहरी पैठ के कारण उनकी यह विधा भी बड़ी सशक्त रही है।

ये कहानियाँ उस समय की लिखी हुई हैं जब कि सारा वातावरण आज से बिल्कुल भिन्न था। ये 'आख्यायिकाएँ' किंवा 'कहानियाँ' आज से लगभग पैंतीस-चालीस वर्ष पूर्व लिखी गई हैं। मोटे रूप में इनका रचनाकाल सन् १९२९ से लगाकर १९३५ तक छः वर्ष का विस्तार लिए है। उस समय के हिन्दी कविता के क्षेत्र में छायावादी युग का बोलबाला था। कहानियों के क्षेत्र में भी उसी प्रकार की प्रवृत्ति अपना एकाधिकार स्थापित किए हुए थी।

इन कहानियों के संदर्भ में छायावाद की चर्चा बहुत कुछ अर्थ रखती है। इन पर निश्चय ही तत्कालीन परिस्थितियों का, चाहे वे आर्थिक रही हों अथवा राजनैतिक अथवा सामाजिक, प्रच्छन्न प्रभाव पड़ा है। यह समय ऐसा था जब कि 'भावनाएँ कठोर वर्तमान से कुण्ठित होकर स्वर्णिम अतीत या आदर्श भविष्य में तृप्ति खोजती थीं, ठोस वास्तव से ठोकर खाकर कल्पना और स्वप्न का संसार रचती थीं, कोलाहल के जीवन से भागकर प्रकृति के विभिन्न अंचल में शरण लेती थीं और स्थूल से हटकर सूक्ष्म की उपासना करती थीं।' (आधुनिक हिन्दी कविता की प्रवृत्तियाँ; डॉ० नगेन्द्र, पृ० १०)

सन् १९२० से लगाकर १९३५ तक याने पूरे पन्द्रह वर्ष तक (और यही सामरजी का कहानी-लेखन-काल रहा है) ऊपरांकित प्रवृत्तियाँ सर्वत्र

व्याप्त थीं। राजनीतिक मंच पर तिलक की मृत्यु के पश्चात् महात्मा गांधी ने प्रवेश पाकर स्वतंत्रता-आन्दोलन की वागडोर अपने हाथों में ली थी।

हिन्दी कहानी के क्षेत्र में उन दिनों एक ओर प्रसाद का तो दूसरी ओर प्रेमचन्द का वोलवाला था। सामरजी की कहानियों पर प्रसाद की कहानियों का न्यूनाधिक प्रभाव अवश्य परिलक्षित होता है और यों इस वात को भी सर्वथा निरपेक्ष होकर नहीं कह सकते कि प्रेमचन्द के प्रभाव से भी वे विल्कुल ही मुक्त रही हों। प्रसाद की कहानियों की सी अतीन्द्रिय भावुकता, ऐतिहासिकता, नाटकीयता तथा भावानुकूल प्रकृति-चित्रण सामरजी की कहानियों में भी यत्र-तत्र दृष्टव्य हैं।

उस समय तक प्रेमचन्द के प्रेम पच्चीसी (१६२३), प्रेम प्रसून (१६२६), प्रेम प्रतिमा (१६२६), प्रेम तीर्थ (१६२६), प्रेम चतुर्थी (१६२६), प्रेम प्रतिज्ञा (१६२६), प्रेम पंचमी (१६३०) आदि कथा-संग्रह पाठकों तक पहुँच चुके थे। प्रसाद और प्रेमचन्द के अतिरिक्त अन्य कहानीकारों में विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' और सुदर्शन भी कहानी-लेखन में व्यस्त थे।

कहानी संवंधी तत्कालीन परिवेश के आलोक में सामरजी की चिरमिलन, पूनों की रात, वालवन्धु, तिरस्कृत, वाँसुरी की तान, वीर प्रणय, अनुचित अधिकार, विवाह, कायापलट, झिड़कन, विधवा, विवाह के पूर्व, निराशा, पतिता, चित्रकार अमर, वापा, सफल आलाप, पोखर, भेड़वाले, श्यामा, कावुली कवूतर आदि सभी कहानियाँ उसी काल-खण्ड-परिवेश की उपज हैं।

इन कहानियों की सवसे वड़ी विशेषता उनमें निहित सरलता है। विषय-वस्तु की दृष्टि से इनमें विविधता दृष्टव्य है। ये कहानियाँ ऐतिहासिक तथा सामाजिक अधिक हैं। इनमें एकाध दार्शनिक तथा अतिशय भावपूर्ण कहानियाँ भी हैं। सभी कहानियों का मूलविषय प्रेम, वीरता, त्याग तथा स्वाभिमान है और उन सव के परे एक विशेष किस्म का आदर्श है जो इन कहानियों को एक लक्ष्य-विन्दु पर लेजाकर छोड़ता है।

'चिरमिलन' में दो प्रेमियों का परिस्थितियोंवश अलग हो जाने के वाद चिता पर मिलन होता है। लेकिन इसके पीछे कहानीकार का मुख्य ध्येय अछूतोद्धार का रहा है। सरजू चमार का वेटा सत्यसेठ किशोरीलाल की लड़की सरस्वती से प्रेम करता है। अंत में उन दोनों के शवों का पास-पास जलती हुई चिताओं पर मिलन कराया जाता है। 'समर्पण' में भी सामरजी ने प्रेम में समर्पण के उच्चादर्श को सर्वाधिक संरक्षण दिया है। इसमें निहित सुशीला का

अन्तर्द्वन्द्व सचमुच एक नया आयाम प्रस्तुत करता है – 'किन्तु एक ही क्षण में उसके हृदय में एक भयंकर पुकार उठी। यह कभी हो सकता है कि उस देवता की अर्चना छोड़ दूं ? मैंने......सर्मपित कर दिया है।'

उनकी प्रत्येक कहानी एक निश्चित उद्देश्य को लेकर चली है। 'बालवन्धु' में महेश और विद्याभूषण के पारस्परिक उत्सर्ग की प्रमुखता है – 'अपने ही कारण उसकी मृत्यु हुई जानकर उसने जमीन पर पड़ी पिस्तौल उठाली और दूसरी गोली अपनी छाती पर चलादी।'

ऐतिहासिक कहानियों में उनकी 'वीर प्रणय' और 'बापा' का स्मरण होना स्वाभाविक है। 'वीर प्रणय' में वीररस को प्रमुखता दी है। इसमें एक सफल ऐतिहासिक वातावरण प्रस्तुत करने में उन्हें अच्छी सफलता मिली है। चित्तौड़गढ़ में हुए जौहर को उन्होंने अपनी इस कहानी का प्रमुख विषय बनाया है। 'विवाह' में जैसा कि शीर्षक से ही स्पष्ट है, विवाह की समस्या को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। 'बापा' में नागदा के युद्ध और एकलिंग की उपासना का वर्णन आया है। 'कायापलट' कहानी में स्वाधीनता-आन्दोलन का भी यथावसर चित्रण किया गया है : 'उसने सुना था – महात्मा गांधी गरीबों के देवता हैं, उन पर उनकी असीम सहानुभूति थी। कई बार कई स्वयंसेवक इस क्लब पर पिकेटिंग करते समय गिरफ्तार हो चुके थे......।' यही नहीं, इसी कहानी में आगे चलकर – 'नरेन्द्र एक दिन दौड़ता आया, कहने लगा कि आज अपने गाँव में कुछ स्वयंसेवक नमक बनाने के लिए आए थे। वे फिर गिरफ्तार होगये।' अन्य कहानियों में से 'बाँसुरी की तान', 'अनुचित अधिकार', 'चित्रकार अमर' आदि में उनके आदर्श की झलक पाई जाती है। यह आदर्श चाहे त्याग का हो या प्रेम का या वीरता का, इसमें भावुकता का तत्त्व विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है।

अपनी कहानियों में सामरजी यत्र-तत्र वातावरण का जीवन्त चित्रण करने में भी सफल हुए हैं। कहीं-कहीं तो कहानी की शुरुआत ही एक विशेष प्रकार के वातावरण का चित्रण करके की गई है यथा – 'नदी का तट था, अन्धकारमयी रात्रि थी, शृगालों का विकट शब्द उसकी निःस्तब्धता को भंग कर रहा था। छोटी सी ऊबड़-खाबड़ श्मशानभूमि पर असंख्य मृत देहों का दाह हो चुका था। यत्र-तत्र चिताओं से निकली हुई अनन्त धूम्रराशि अग्नि की स्वर्णमयी लौ के साथ आकाश में उठकर उस भयावह रात्रि को रौद्र आवरण पहना रही थी।' रौद्ररसयुक्त इस वातावरण से परे 'वीर प्रणय' में 'अंधकारमयी

रात्रि साँय-साँय शब्द से संसार को एक भयंकर रूप प्रदान कर रही थी। पर्वत से निकलीहुई कलकलनादिनी नदियाँ..........' जैसा वातावरण भी देखने को मिलता है।

सामरजी की कहानियों का शिल्प अपना विशेष महत्त्व रखता है। एक बात जो सहज ही ध्यान में आजाती है वह है उनकी नाटकीयता। उनकी कहानियों में उनके नाटक का आस्वाद भी स्वाभाविक है। नाटकीयता का तत्त्व उनकी कहानियों को जहाँ एक ओर विशिष्ट गरिमा प्रदान करता है वहीं उनमें निहित उनकी अतिशयता बड़ी उबानेवाली होती है। आरोपित नाटकीयता कहीं-कहीं उनके प्रवाह में अवरोध भी उत्पन्न करती है। परन्तु ऐसे स्थल बहुत कम हैं। कहानियों के संवाद कहीं-कहीं बड़े प्रभावशाली बन पड़े हैं जिनमें एक ओर चुस्ती है और दूसरी ओर पैनापन यथा—

**कुमार** — निरुद्देश्य संघ का संचालन कौन करेगा ?

**कल्याणी** — आप।

**कुमार** — किस अभिप्राय से ?

**कल्याणी** — अन्यायकारी सत्ताओं का नाश करने।

किसी-किसी कहानी का प्रारंभ भी कथोपकथन से होता है। 'कायाकल्प' में जैसे—

**मालती** — तू फिर आगया, दुराग्रही साधु !

**साधु** — हाँ माई।

**मालती** — तुममें तनिक भी लज्जा नहीं।

**साधु** — लज्जा हमसे दूर भागती है माई ! हमको केवल अपनी धुन प्यारी है।

भाषा की दृष्टि से इन कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता उनकी सरलता है। अपने को भावानुकूल ढालने की क्षमता में भी ये कहानियाँ सर्वथा सफल रही हैं। सामरजी द्वारा लिखित ये सभी कहानियाँ, जो पूर्ण प्रभावकारी हैं, अप्रकाशित हैं। इन कहानियों का अपना निजी संसार है — इससे कोई भी इन्कार नहीं कर सकता। ■

# 4

## नाटककार

**डॉ० रामचरण महेन्द्र**

सन् १९२४ की बात है; राजस्थान में ही क्या समूचे हिन्दी रंगमंच पर, विशेषत: उत्तर भारत के नाटकों पर पारसी नाटक प्रणाली का बोलबाला था। उन दिनों नाटक अपनी प्रारम्भिक अवस्था से गुजर रहा था। अच्छे रंगमंच का तो अभाव था ही, पर प्रदर्शनार्थ उससे भी अच्छे नाटकों का अभाव था। रंगमंच की अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु सामरजी ने स्वतंत्र रूप से नाटक लिखना प्रारम्भ किया। अपने 'सागरकन्या' नाटक के प्रारम्भ में इस बात को बड़ी गम्भीरतापूर्वक स्वीकार करते हुए लिखा है – 'उन अनेक नाटकों की भरती में जो कदाचित् कभी भी उचित रंगमंच के अभाव में अभिनीत न हुए हों, मैं अपना एक और नाटक जोड़ रहा हूँ। इस नाटक को लिखने का मेरा एकमात्र दृष्टिकोण रंगमंच की अनेक आवश्यकताओं को पूर्ण करने का है। इसलिए पाठक देखेंगे कि रंगमंच की अनेक सीमाओं और मर्यादाओं का अतिक्रमण कर मैंने इस नवीन ढंग के नाट्य का सृजन किया है।' नाट्य-रचना के सम्बन्ध में इनकी अपनी निजी और स्पष्ट मान्यता रही है। इसको विशुद्ध दृश्यकाव्य मानते हुए इन्होंने एक स्थान पर लिखा है – 'मैं यह नहीं मानता कि खेलने और पढ़ने के नाटक अलग-अलग हुआ करते हैं। नाट्य को मैं विशुद्ध दृश्यकाव्य मानता हूँ, जिसका सौन्दर्य उसके अभिनय में है और रसाभिव्यंजना रंगमंच पर ही प्रस्फुटित होती है।'

सामरजी के प्रकाशित नाटक-साहित्य और एकांकी-साहित्य में स्वदेश-प्रेम, स्वातंत्र्यभावना, राष्ट्रीयता और समाज-सुधार की आदर्श भावनाएँ निहित हैं। देश की आजादी से पूर्व ये नाटक लिखे गए थे, अत: पराधीनता के अभिशाप से

बचने के लिए इन्होंने इन नाटकों में विद्रोह की भावनाएँ मुखरित की हैं। सामरजी स्वयं एक सफल अभिनेता हैं एवं रंगमंचीय शिल्प-सज्जा से सुपरिचित हैं। इस क्षेत्र में अभिनेय नाटकों की न्यूनता, दृश्यों की अधिकता एवं रंगमंच की अज्ञानता के कारण जो कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं उनसे पृथक् नई शैली के एकांकी लिखे हैं।

सामरजी ने अनुभव किया कि जिन नाटकों का अभिनय नहीं हो सकता वे केवल वाचनालयों या स्कूल की कक्षाओं तक ही सीमित रह जाते हैं। रंगमंच-विहीन नाटक के द्वारा सांस्कृतिक कलाओं का पुनरुत्थान संभव नहीं है। अतः रंगमंच का व्यावहारिक अनुभव लेकर अभिनय और नृत्य-कलाओं को दृष्टि में रखते हुए इन्होंने अभिनय-योग्य एकांकी नाटकों की रचना की जिनमें गतिमान कथानक और सजीव कथोपकथन का अपना निजी सौन्दर्य है। इस दृष्टि से इनका प्रत्येक नाटक और एकांकी रंगमंच पर सफलतापूर्वक अभिनीत हो सकता है।

सामरजी द्वारा लिखित नाटकों को मुख्यतः पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है –

**(अ) ऐतिहासिक एवं आदर्शवादी नाटक**

(१) वीर वल्लू (२) ओ नीला घोड़ा रा असवार
(३) जीवनदान (४) राजस्थान का भीष्म

**(ब) सामाजिक एवं राष्ट्रीय नाटक**

(१) वल्लभ (२) तवायफ के घर बगावत
(३) मृत्यु के उपरान्त (४) उपन्यास का परिच्छेद
(५) अमीरों की बस्ती (६) कलियुग
(७) परित्याग (८) अछूत
(९) स्वातंत्र्य दिवस (१०) दलित कन्या
(११) बलिदान (१२) महान् बलिदान
(१३) सागरकन्या (१४) बापू

**(स) आध्यात्मिक नाटक**

(१) आत्मा की खोज (२) ईश्वर की खोज

**(द) मनोवैज्ञानिक समस्याप्रधान नाटक**

(१) समस्या बालक

**(य) काल्पनिक तथा वैज्ञानिक नाटक**

(१) चन्द्रलोक

राजस्थान में रहने के कारण राजस्थान का इतिहास इनके ऐतिहासिक नाटकों का प्रेरणास्रोत रहा है। इनका लिखा 'राजस्थान का भीष्म' वीररस-प्रधान साहित्यिक नाटक है। जिन दिनों यह लिखा गया था उन दिनों रंगमंच का अभाव था जो नाटक-लेखकों के मार्ग में सबसे बड़ी कठिनाई बना हुआ था। सिनेमा के कारण जनता रंगमंच को भूलती जारही थी। पारसी रंगमंच भी लुप्तप्राय सा हुआ जारहा था तब आधुनिक रंगमंच के अनुरूप नाटक लिखने की बात कौन सोचे? मार्गदर्शक कौन बने? सामरजी का 'राजस्थान का भीष्म' आधुनिक नाटक-शैली के अनुसार तो नहीं लिखा गया, पर इन्होंने अपने इस नाटक में बहुप्रवेशी-शैली का प्रयोग अवश्य किया। इनका ऐतिहासिक कथानक इतना प्रेरणादायक और आदर्शवादी है कि लेखक नाटक लिखने का लोभ संवरण न कर सका। त्यागवीर चंड के जीवन की ओर अबतक किसी नाटककार का ध्यान नहीं गया था। सामरजी ने इस नाटक में चंड के माध्यम से देशसेवा, त्याग, कर्त्तव्यपरायणता, उच्चादर्श और वीरता का सुन्दर सामञ्जस्य दिखाया है। इस नाटक में इन्होंने कई काल्पनिक पात्रों की भी रचना की है। चंचला के चरित्र की कल्पना चंड के चरित्र को उभारने और उसे अधिक प्रखर बनाने के उद्देश्य से की गई है। इसी प्रकार चाचामेर (राणा क्षेत्रसिंह का दासीपुत्र) और खातणराणी (चाचामेर की माता) के ऐतिहासिक जीवन पर अत्यंत महत्त्वहीन चरित्रों को नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करने के लिए बहुत ही आगे लाने का यत्न किया गया है। इतिहास में इनका केवल उल्लेख मात्र है। इस नाटक में राजस्थान की राजकीय, सामन्ती और सामाजिक परम्पराओं का सच्चा चित्र उपस्थित करने का यत्न किया गया है। साथ ही राजस्थान के रस्म-रिवाजों, राजपूतों की चारित्रिक विशेषताओं और युगविशेष की विविध प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन कराने की ओर भी विशेष ध्यान दिया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से पात्रों का चरित्र-चित्रण कुशलतापूर्वक किया गया है। रंगभूमि पर नाट्य-प्रदर्शन में दर्शकों की रुचि अविच्छिन्न बनाए रखने का भी ध्यान रखा गया है।

ऐतिहासिक एकांकी नाटकों में 'वीर बल्लू', 'ओ नीला घोड़ा रा असवार', 'जीवनदान' आदि में प्राचीन रजपूती शौर्य, बलिदान, मातृभूमि-प्रेम, स्वातंत्र्य-प्रेम आदि का चित्रण किया गया है। मेवाड़-निवासी होने के कारण इनमें राजपूतों के जीवन, स्वाभिमान, वंश-परम्परा, मर्यादा, रीति-रिवाज आदि का चित्रण कुशलता से हुआ है।

सामाजिक एवं व्यंग्यात्मक नाटकों में समारजी ने आश्रयहीन, तिरस्कृत विधवाओं तथा समाज में उनके प्रति दुर्व्यवहार, छुआछूत, पुरानी जीर्ण-शीर्ण परम्पराओं, रूढ़िवादिता तथा परिवारों की त्रुटियों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। 'परित्यक्ता', 'तवायफ के घर वगावत', 'अछूत', 'मृत्यु के उपरान्त' आदि एकांकी नाटकों में सामाजिक समस्याओं का विश्लेपण है। 'परित्यक्ता' एकांकी में विधवा की समस्या और सामाजिक रूढ़ियों, भ्रमात्मक धारणाओं तथा संकुचित विचारधाराओं में फँसे हुए ग्रामीणों की मूढ़ता के चित्र खींचे गए हैं। सारा गाँव एक गरीव विधवा के विरुद्ध हो उठता है। वह वेचारी उससे नहीं लड़ पाती है तव उसे उपेक्षित और तिरस्कृत होकर अपना जीवन व्यतीत करना पड़ता है। अपनी एकमात्र पुत्री के लिए वह जीना चाहती है किन्तु रूढ़िवादी समाज उसके विरुद्ध ही रहता है। पानी भरने जाती है तो दुष्ट ढेले मारते हैं। उसकी छायामात्र से वच्चा वीमार हुआ समझा जाता है। अन्त में उसके वात्सल्य का मर्म प्रकट होता है। इस एकांकी में अंधविश्वास, जादू-टोना, समाज की रूढ़िवादिता, विधवाओं की दुरवस्था की करुण झाँकी दीगई है जिसमें सामरजी का समाज-सुधारक रूप प्रकट हुआ मिलता है। नाटक के अन्त में परोक्ष रूप में यह दिखाया गया है कि समाज को नए आदर्शों के अनुसार वदलना चाहिए। अतः पाप से घृणा होनी चाहिए पापी से नहीं।

इनका लिखा 'सागरकन्या' नाटक चित्रनाट्य का प्रायोगिक आधार प्रस्तुत करता है। मद्रास में प्रसिद्ध नृत्याचार्य उदयशंकरजी के साथ 'कल्पना' फिल्म में काम करने पर लेखक को इसके लिखने की प्रेरणा मिली। इसमें केवल पाँच अंक हैं जो समयान्तर के उद्देश्य से रखे गए हैं। स्थानान्तर की कठिनाई को इसमें विल्कुल ही हल कर लिया गया है। एक ही वार वास्तविक सामग्रियों से सिनेमा स्टूडियो के किसी एक स्थान-विशेष के सेट के अनुरूप ही रंगमंच पर स्थिति-विशेप का सृजन कर उसे प्रकाश आदि से ज्योतित करके स्थल और समय का प्रभाव उत्पन्न किया गया है। सामग्री-परिवर्तन की भी इसमें कहीं आवश्यकता नहीं रखी गई है। केवल दर्शकों की सुविधा के लिए दृश्य-उपरान्त एक छोटे से मध्यान्तर की योजना वरती गई है। अपने 'दो शब्द' में इसके लिए लेखक ने लिखा है—'यह नाट्य यदि गतिपूर्ण सम्पूर्ण योजना से युक्त पूर्ण रूप से सिद्धहस्त कलाकारों द्वारा अभिनीत होगा तो ढाई घंटे इसके अभिनय के लिए पर्याप्त होंगे।'

'मृत्यु के उपरान्त' नाटक में बाहरी दिखावा, झूठा प्रेम, मिथ्या शान-शौकत, बनावटी ऊपरी आदर, रुपए का माहात्म्य तथा दुनियादारी का मिथ्याचार चित्रित किया गया है। आज के छल-छद्मपूर्ण दंभी समाज का सजीव भंडाफोड़ किया गया है। व्यंग्यमयी यथार्थवादी शैली में लिखा यह नाटक अपने आपमें एक प्रयोग लगता है जिसका प्रभाव ठेठ तक बड़ा वजनी असर डालता है।

'अछूत' हिन्दू समाज की कुरीतियों का यथार्थ चित्र है। हमारा समाज निम्नवर्ग के लोगों पर बड़ा अत्याचार कर रहा है। ऊँच-नीच के भेदभाव के कारण ही हिन्दुओं का एक बड़ा वर्ग अछूत कहलाता है। सामरजी इस अन्याय के घोर विरोधी हैं। अपने सामाजिक नाटकों में इन्होंने इस संकुचितता के प्रति लोगों का ध्यान आकृष्ट किया है। हमारे समाज के ठुकराए हुए पात्र, जो आज भी पुराने युग की सड़ांद अपने अन्दर समेटे हुए हैं, इस नाटक में खुलकर सामने आये हैं। वे अपने कठोर जीवन और रूढ़िवादी समाज की वास्तविकता को छोड़ किसी आकाशगामी कल्पना के पीछे नहीं भागे हैं। लेखक ने सच्चे कवि की तरह इस नाटक में पीड़ितों का दुःख, अश्रु, संताप और पीड़ा को अपनी पीड़ा और दुःख-दर्द मानकर उनके प्रति सहानुभूति, सहयोग एवं सहकार दिखाया है।

आध्यात्मिक नाटकों में सामरजी का गंभीर विचारशील दार्शनिक व्यक्तित्व मुखरित हुआ है। उनका चिन्तनपक्ष भी उतना ही गहन है जितना दूरदर्शी सामाजिक पक्ष रहा है। 'ईश्वर की खोज' और 'आत्मा की खोज' जैसे नाटकों में वे दार्शनिक पेचीदगी में घुसे हैं। इन नाटकों में प्रतीकों की सहायता से दार्शनिक विषयों को स्पष्ट किया गया है। मन्दिर में अनेक यात्री आते हैं जो परम्परावादी, भावनावादी, ईश्वरवादी, अनीश्वरवादी एवं संस्कारवादी हैं। 'ईश्वर की खोज' का भवानीपीठ का आचार्य संसार से पूर्ण सामंजस्य प्राप्त मानव का प्रतीक है।

शिक्षण क्षेत्रों में अध्ययन-कार्य करने के कारण इनका संबंध बच्चों के मनोविज्ञान से भी रहा है। अतः इन्होंने कुछ मनोवैज्ञानिक नाटक भी लिखे हैं जिनमें 'समस्या बालक' उल्लेखनीय है। आज के मनोवैज्ञानिक यह कहते हैं कि मातापिता के दुर्व्यवहार, मारपीट एवं अनावश्यक दबाव आदि से जो ऊल-जलूल ग्रंथियाँ उत्पन्न हो जाती हैं उनका निराकरण कैसे हो? प्रस्तुत नाटक में सामरजी ने बड़े सुथरे ढंग से इसका निराकरण खोज निकाला है। इससे नाटक की प्रभाव-व्यंजना में कहीं भी शिथिलता नहीं आने पाई है।

अपने लेखन द्वारा सामरजी ने नए टाइप के रंगमंचीय नाटकों की सृष्टि भी की है। 'दलित कन्या' तथा 'महान् वलिदान' नाटकों में रंगमंच के नवीनतम प्रयोग मिलते हैं। एक ही घटनास्थल पर एक विशद कथानक के रूप में जीवन की समस्त झांकियाँ उपस्थित करना नाट्यकला का नवीनतम प्रयोग है। इन दोनों नाटकों में चरित्र-चित्रण की परिपक्वता के साथ ही आधुनिक नाटक के समस्त तत्त्वों का सुन्दर ढंग से निर्वाह हुआ है। ये नाटक रंगमंच पर प्रशंसित भी होचुके हैं।

सामरजी का समग्र जीवन नाटक, नृत्य, अभिनय एवं लोककलाओं के उन्नयन में व्यतीत हुआ है। वे सैकड़ों कलाकृतियों को प्रकाश में लाए हैं। उन्होंने हिन्दी-जगत् को एक रंगमंच दिया है और उसका निजी शिल्प-विधान भी। ■

5

# कठपुतली-नाट्य-प्रयोक्ता

डॉ० महेन्द्र भानावत

भारतीय कठपुतलियाँ विश्वभर में सबसे प्राचीन कही जाती हैं। शास्त्रों में यत्र-तत्र पुतलियों के जो उल्लेख मिलते हैं तथा वर्तमान में पुरातन पुतलियों की जो विविध शैलियाँ विद्यमान हैं उनसे भी पुतलियों की प्राचीनता सिद्ध होती है। राजस्थान, उड़ीसा, बंगाल, आन्ध्र, बिहार, तमिलनाड आदि राज्यों में आज भी पुतलियाँ नचानेवाले हैं परन्तु अति-परम्परावादी होने के कारण उनका महत्त्व नहीं रह गया है। न तो वे अपनी पारम्परिक विस्मृत कड़ियों को जोड़ने में ही समर्थ हैं और न अपनी पुतलियों में युगानुरूप नये परिवेश धारण करने की ही उनमें क्षमता दिखाई देती है।

ऐसी स्थिति में सामरजी ने पुतलियों की इस कला के महत्त्व को प्रतिष्ठित करने का बीड़ा उठाया। सन् १९५८ में विकास विभाग राजस्थान की ओर से भारतीय लोक कला मंडल के तत्त्वावधान में पहली बार राजस्थान लोक कलाकार प्रशिक्षण शिविर आयोजित किया गया। वेदला (उदयपुर) गाँव में यह शिविर दो महीने (अगस्त-सितम्बर) तक चला जिसमें ४८ विकास-क्षेत्रों के कुल १२५ कलाकार लोकसंगीत, नृत्य एवं नाट्य में प्रशिक्षित किये गये। इस शिविर में जीजोट (जोधपुर) के नाथू भाट के कठपुतली दल को भी प्रशिक्षित किया गया। नाथू को परम्परागत कठपुतली खेल के आधार पर रामायण-विषयक नई नाटिका की रचना कर पूरे दो महीने तक प्रशिक्षित किया गया। यह नाटिका सामरजी द्वारा ही लिखी गई थी जिसमें ११ दृश्य एवं ११ गीत थे। खेल के साथ-साथ पीठिका में सम्पूर्ण कथा की पद्यगायकी चलती थी। इस लीला का प्रशिक्षण देने में आदि से अन्त तक लेखक स्वयं नाथू भाट

के साथ रहा है। १८ अक्टूबर को तत्कालीन प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने इसका उद्घाटन किया। यह नाटिका इतनी लोकप्रिय हुई कि राजस्थान के विविध गाँवों में स्वयं सरकार ने इसके ५०० प्रदर्शन करवाए। इससे सामरजी की वड़ी प्रतिष्ठा वढ़ी। इस असाधारण सफलता के कारण सामरजी का ध्यान कठपुतली-रचना की ओर गया। फलस्वरूप भारतीय लोक कला मंडल के प्रांगण में सन् १९५९ में इन्होंने एक अखिल-भारतीय कठपुतली समारोह का आयोजन किया। इस समारोह में देश के वारह पारम्परिक पुतलीदलों ने भाग लिया। यह पहला अवसर था जव कि विविध शैली के पुतलीकारों ने एक मंच पर एकत्र होकर अपने प्रदर्शन दिये। पुतली-विशेषज्ञों एवं प्रयोगियों को भी इस समारोह से वड़ा लाभ हुआ परन्तु ऐसा प्रतीत हुआ कि पुतलीखेलों में केवल पारम्परिक लीकमात्र शेष रह गई है और वे अपनी रंगीनियों के अभाव में श्रीहीन एवं निष्प्राण हुए जारहे हैं। इस समारोह में सवसे वड़ा लाभ यह हुआ कि सामरजी ने देश के समस्त कलाविदों तथा राजनेताओं का ध्यान इस कला की ओर आकृष्ट किया। लोगों ने इसके महत्त्व को समझा और सराहा। राजकीय स्तर पर भी इसकी अच्छी प्रतिक्रिया रही। यही कारण था कि १९६० में जव वुखारेस्ट में द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय कठपुतली समारोह आयोजित किया गया तो भारत सरकार ने उसमें भाग लेने के लिए भारतीय प्रतिनिधि के रूप में सामरजी को यह अवसर प्रदान किया परन्तु भारत सरकार की आँखों में पुतलियों की गौरव-गरिमा की उदात्तता उतने उन्नत रूप में समाविष्ट नहीं हो पाई थी। अतः उक्त समारोह में किसी भारतीय पुतलीदल को नहीं भेजकर अकेले सामरजी को ही भेजा गया। उस समय धारणा यह वन चुकी थी (जो किसी हद तक ठीक भी थी) कि विश्वपुतलियों की समता-समानता में भारतीय पुतलियों का खड़ा रहना संभव नहीं है। इसलिए सामरजी के समझाने तथा आग्रह करने पर भी तत्कालीन शिक्षा-संस्कृति-मंत्री प्रो० हुमायूं कवीर ने उनकी वात पर विशेष ध्यान नहीं दिया।

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह समारोह सामरजी के लिए वरदान सिद्ध हुआ। कठपुतली-विषयक इनके अध्ययन में विश्वकठपुतली के परिप्रेक्ष्य की संदर्भसूचक कई नई वातें और जुड़ीं। यहीं सामरजी ने अपने साथ नमूने के रूप में लेजाई गई पुतलियों से एक छोटा सा प्रदर्शन भी दिया जो वहुत ही सराहनीय रहा और जिसके फलस्वरूप उन्हें यूरोप के कई देशों का आमंत्रण-आतिथ्य भी प्राप्त हुआ।

यूरोप से लौटने पर सामरजी ने यह अनुभव किया कि विश्वपुतलियों की समता में भारतीय पुतलियाँ किसी कदर कम नहीं हैं। यह बात दूसरी है कि यहाँ की पुतलियों में उन अनेक आधुनिक उपकरणों, मंचीय साज-सज्जाओं एवं ध्वनि तथा प्रकाश-साधनों का भरपूर उपयोग नहीं होकर उनका सर्वथा अभाव परिलक्षित होता है।

यह सोच सामरजी ने इस दिशा में नवीन प्रयोगों की ओर अपने आपको लगा दिया। परिणाम यह हुआ कि १९६५ में बुखारेस्ट में जब तृतीय कठ-पुतली समारोह आयोजित किया गया तो इस बार प्रधानमंत्री श्री लालबहादुरजी शास्त्री की कृपा से सामरजी के साथ-साथ उनके कठपुतलीदल को भी जाने का अवसर प्राप्त हुआ। इस समारोह में लगभग ३३ देशों के ५५ कठपुतलीदलों ने भाग लिया जिसमें पारम्परिक पुतली-प्रदर्शन का प्रथम पुरस्कार भारत (सामर-दल) को प्राप्त हुआ। पहली बार में ही इस समारोह में सामरजी ने भारतीय पुतलियों को विश्व-मानचित्र के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा दिया।

यहाँ से लौटने पर सामरजी ने कलामंडल में स्थायी रूप से कठपुतली-कलाकारों का एक विशिष्ट दल तैयार किया और पुतलियों की एक स्वतंत्र प्रयोगशाला एवं वर्कशाप का निर्माण किया, जो आज भी कठपुतलियों के नित-नवीन प्रयोगों के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ का पुतली थियेटर भी देश के माने हुए थियेटरों में गिना जाता है। इसमें सूत्र-संचालित पुतलियों के अधुनातन सभी उपकरण विद्यमान हैं। भारतवर्ष का यह पहला थियेटर है जिसमें पुलवाले रंगमंच पर चढ़कर कठपुतलियाँ चलाई जाती हैं। इस विशिष्ट मंच के दो पुल हैं जिन पर सामने और पीछे की ओर छः छः पुतलीकार पुतलियाँ चलाकर अपना कमाल दिखाते हैं। इस पुल के लगभग दस फीट ऊपर मंच का एक स्तर और है जिस पर से विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न करनेवाली पुतलियाँ चलाई जाती हैं।

इस बहूद्देशीय रंगमंच के चतुर्दिक् दृश्य दिखाने के लिए अनेक रंगमंचीय उपकरण हैं जो प्रसंगानुसार परिवर्तित होते रहते हैं। इस मंच पर प्रस्तुत होने वाली पुतलियाँ रेकार्डित नाट्य के आधार पर अपना कौतुक प्रदर्शित करती हैं।

सामरजी व्यावसायिक पुतलीचालक तो नहीं हैं परन्तु समय आने पर यह कार्य भी वे उसी प्रवीणता से कर लेते हैं। उनकी विशेषता इसी में है कि वे पुतली के समस्त तंत्र-मर्म को भली प्रकार समझते हैं। शैक्षणिक कठपुतलियों पर लिखे उनके कई लेख बड़े उपयोगी सिद्ध हुए हैं जिनमें उन्होंने जटिल एवं समस्या-बालकों की विविध समस्याओं का निराकरण कठपुतलियों में खोजा है। इस

संबंध में उनके स्वयं के प्रयोग भी बड़े सफल रहे हैं जो उन्होंने तीन हकलानेवाले बच्चों पर किए हैं।

कठपुतली-मंचन के इस प्रसंग में सामरजी द्वारा रचित कठपुतली-नाटिकाओं को हम विस्मृत नहीं कर सकते। इन नाटिकाओं का विश्लेषण यहाँ इसलिए भी आवश्यक प्रतीत होता है कि देश में यत्र-तत्र जो अनेक प्रयोग हो रहे हैं उनको भी इनसे कुछ दिशा-बोध मिल सके।

सामरजी कठपुतलीनाट्य को मानवनाट्य से सर्वथा भिन्न मानते हैं। उनका कहना है कि कठपुतलीपात्र काठ या अन्य किसी निष्प्राण सामग्री से बनते हैं। उनके अपने प्राण नहीं होने की वजह से उनमें प्राणों की प्रतिष्ठा करनी होती है। उनमें धड़कता हुआ दिल और सोचने के लिए बुद्धि नहीं होती। ये दोनों ही कार्य पुतली-चालक को करने पड़ते हैं। इन पुतलियों को बुद्धि, प्राण एवं संवेदन के लिए अन्य सजीव प्राणियों पर निर्भर रहना पड़ता है। उनकी अपनी रक्त-शिराएँ नहीं होतीं। उनका शरीर मांसपेशियों से बना नहीं होता। वे स्वयं गाती-बोलती नहीं। उनकी रक्त-शिराएँ यदि कोई हैं तो वे धागे हैं जो उनके साथ लगे हुए हैं और जिनसे वे परिचालकों की थिरकती हुई उँगलियों के माध्यम से स्फुरणा प्राप्त करती हैं। उन्हें अपनी वाणी भी अपने परिचालकों के माध्यम से ही करनी पड़ती है। उनकी आँखें हिलती नहीं, होठ चलते नहीं। शरीर के अंग-प्रत्यंग भी कुछ ही क्रियाएँ करते हैं फिर भी उन्हें आँखें चलने, होठ हिलने तथा अपने अंग की कुछ ही क्रियाओं से अनेक क्रियाओं का भ्रम पैदा करना होता है। कल्पना, सीमा, विवशता और भ्रम की दुनियाँ में विचरण करनेवाले इन प्राणियों को अपनी शक्ति से भी परे काम करने पड़ते हैं, अतः इनके लिए लिखा गया नाटक इनकी भ्रममूलकता को परिपुष्ट करनेवाला होना चाहिये। उनका आकार-प्रकार, गठन, संयोजन-नियोजन अति सरल एवं स्पष्ट तथा नाना पेचीदगियों, दार्शनिक ऊहापोहों, प्रतीकों और रहस्यात्मक अर्थों से मुक्त होना चाहिये। इस दृष्टि से सामरजी द्वारा लिखित पुतली-नाटिकाओं में रामायण, पतरा, पंचफूला, लंगोटी की माया, संगठन में बल, मुगल दरबार, सदाबहार, किरायादार, सुजाता, सोहबत का असर, चतुर मेढक, दो दोस्त, हम सब एक हैं, आओ पढ़ने चलें, कौआ और हिरण आदि नाटिकाएँ सर्वाधिक चर्चित रही हैं।

### १. रामायण

इसकी रचना राजस्थानी पुतलियों की पारम्परिक शैली में कीगई है। इसमें राजस्थानी शैली की सीटीनुमा भाषा का प्रचुर प्रयोग होता है। बीच-बीच
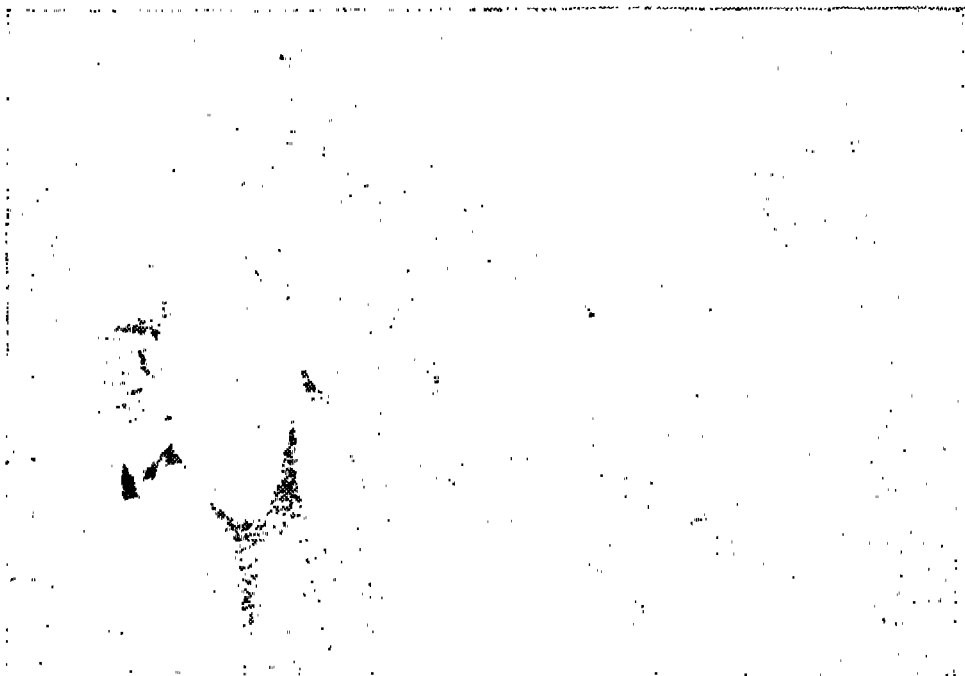
सामरजी : लंदन के सुप्रसिद्ध कलाकार श्री एलन तथा
अपने भवाई-नर्तक दयाराम के साथ [१९६५]
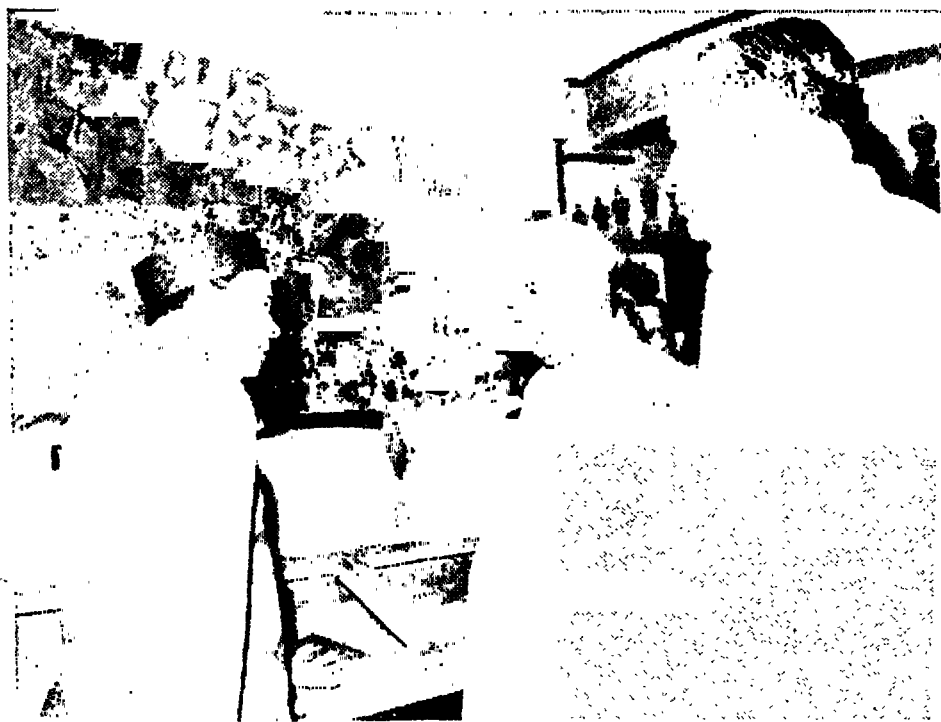
कलामंडल संग्रहालय में भारत के गृहमंत्री श्री चह्वाण तथा राजस्थान के
मुख्यमंत्री श्री सुखाड़िया के साथ सामरजी [१९६७]

सामरजी : सुप्रसिद्ध अभिनेता श्री पृथ्वीराज कपूर के साथ [१९६८]

वगदाद में सामरजी का स्वागत करते
हुए ईराक के विदेश मंत्री [१९६८]

में डुगडुगीवाले का उपयोग भी राजस्थानी शैली को निखारने में सफल हुआ है। इस नाटिका की अधिकांश पुतलियाँ भी राजस्थानी शैली में ही निर्मित हुई हैं। राजस्थान की पुतली बिना टाँगोंवाली होती है अतः उसके ऊपर से नीचेवाले हिस्से को घेरदार लम्बे झग्गों से ढकना पड़ता है। ये पुतलियाँ चलने की वजाय धीमी चाल में फुदकती हैं, दौड़ने की बजाय उड़ती हैं और यदि किसीको पीटना-पटकना हो या किसीको लड़ना-झगड़ना हो तो संबंधित पुतलीपात्र पर अपने पूरे वल सहित जा गिरती हैं। इसमें समस्त पात्र राजस्थानी पोशाक धारण करते हैं। सीता को साड़ी-लहँगा पहनाया जाता है। शूर्पणखा राम-लखन को रिझाने के लिए राजस्थानी पोशाक में आती है। दशमुखी रावण भी राजस्थानी रजवाड़ी पोशाक ही धारण किए होता है। कैकयी भी राजस्थानी साड़ी-लहँगे में प्रस्तुत कीगई है। राम-लखन को छोड़ दशरथ, जनक तथा अन्य पुरुष-पात्र भी राजस्थानी पोशाकों में ही दर्शाये गये हैं। राक्षसी-पात्र पौराणिक पोशाकों में प्रस्तुत किए गये हैं। बन्दर, रीछ, हनुमान, सुग्रीव, नल, नील आदि भी अपने पाशविक चेहरों में ही अभिनीत हुए दिखाए गये हैं।

'रामायण' का सीता-स्वयंवरवाला दृश्य तो अपने सजाव, शृंगार एवं राजसी ठाठ में राजस्थानी पुतली के मुगलदरवार की शैली में ही दिखाया गया है। दूर देशों से आनेवाले राजा-महाराजा भी राजस्थानी पुतलियों की मुगलदरवारी शैली में ही दिखाई देते हैं। स्वयंवर की सभा जुड़ने से पूर्व राजस्थानी शैली की ही तरह भिश्ती छिड़काव करने आता है, फर्राश झाड़ू लगाता है तथा डुगडुगीवाले के बार-बार डुगडुगी बजाने पर चोवदार उसे पटकी देताहुआ दिखाया जाता है। यह डुगडुगीवाला रामायण के सभी दृश्यों में अपने नियत स्थान पर बैठा रहता है और अवसरानुकूल अपनी डुगडुगी बजाकर प्रसन्नता की जगह प्रसन्नता व्यक्त करता है और जहाँ किसीकी मजाक करनी होती है या किसीको प्रताड़ित करना होता है, उस समय यह अपनी डुगडुगी सहित उस पर जा चढ़ता है। यह डुगडुगीवाला समय-समय पर विदूषक का काम करता है, अनेक रहस्यमयी गुत्थियों को सुलझाता है, कई प्रश्नों का माकूल उत्तर देता है और समस्त नाटक में बड़े रोचक ढंग से पृष्ठवाचक का पार्ट अदा करता है।

यों राजस्थानी पुतलियों में डुगडुगीवाले की कोई पूर्व-नियोजित भूमिका नहीं होती, न उसका नाटक के किसी प्रसंग से कोई सीधा संवंध ही रहता है

परन्तु असंबंधित होते हुए भी उसका अभिन्न संबंध बन जाता है और एक प्रकार से नाट्य-रचनाकार का वह महत्त्वपूर्ण भाग अदा करता है जिसे लेखक स्वयं प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में भी नहीं कर सकता है।

'रामायण' में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका उस संत-कवि की है जो रंगमंच के शीर्षभाग पर आसन लगाए बैठा रहकर रामायण की चौपाइयों का ससंगीत पाठ करता है और कथावाचन की शैली में उन्हें उलथाता है। कवि की यह अवस्थिति नाट्यपात्रों से सर्वथा अलग-थलग है। दृश्यारंभ से पूर्व ही कवि का पारम्परिक कथावाचन प्रारंभ होजाता है। रंगमंच परदे से ढका रहता है। प्रेक्षागृह की रोशनियाँ सर्वथा गुल रहती हैं। कवि की ओर उन्मुख की हुई विशिष्ट स्पोटलाइट का प्रकाशपुंज उसी समय कवि के मुख को आलोकित करता है जब उसके मुखारविंद से तुलसीकृत चौपाइयों का गान प्रारंभ होता है। इस समय दर्शकसमुदाय यह भूल जाता है कि वह पुतली-नाटिका के लिए एकत्र हुआ है। उसके सम्मुख दाढ़ी-जटायुक्त कवि — ऋषिराज अपनी मूंडी हिलाते हुए हाथ से रामायण के पृष्ठ उलटते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इस अवधि में एक दृश्य की समाप्ति पर दूसरे दृश्य की तैयारी प्रारंभ होजाती है। पर्दा खुलता है और योगिराज पुनः अंधकार में विलीन होजाते हैं।

'रामायण' के स्क्रिप्ट-लेखन में जहाँ राजस्थानी पुतली-नाट्यशैली का निर्वाह मिलता है वहाँ उसके गीतों में रासधारी का अनुकरण देखा जाता है। माया-मृग की खोज में जब राम वनगमन करते हैं और 'हा राम' की ध्वनि सुन जब सीतामाता लक्ष्मण को भी राम की खोज में भेज देती हैं तब मौका पाकर साधुवेश में रावण प्रवेशकर सीता को छलने का उपक्रम करता है, इस समय का समस्त दृश्य रासधारी से अतिशय प्रभावित है। एकाध गीत-संवाद तो हूबहू रासधारी का ही प्रयुक्त हुआ पाया जाता है। उदाहरणार्थ सीताहरण का एक गीत यहाँ दृष्टव्य है—

रावण — जोगी ने अलख जगायो राणीजी, अलख जगायो
हो राणीजी द्वारे थारे आयो ॥
बारा बरस बनखंड में ताप्यो, थारो तो पार नहीं पायो रे सीता
ले झोली मांगण को निकस्यो, पाणी को पियासो राणीजी
द्वारे थारे आयो राणीजी द्वारे थारे आयो ॥

सीता — हटजा रे जोगी तूं म्हारे आँगण से, सीता ने सुण पायो
रे जोगी सीता ने सुण पायो ॥

रामचन्दर तो गिया बिनवासा, आड़ी तो कार लगाई
रे जोगी आड़ी तो कार लगाई ॥
कार लोप थने भिगसा जो घालूं बळजळ भसम हो जाऊँ
रे जोगी काळ थारो हरि हाथ आयो ॥

## ताल कहरवा, मात्रा ८

### स्थायी

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| नीनी | नी | नीनी | नि सां | नीसां | – | – | – |
| जोगी | ने | अ ल | ख ज | गायो | ऽ | ऽ | ऽ |
| प नी | सां रे | सां रे | नी | ध प | – | – | – |
| रा ऽ | ऽ ऽ | ऽ ऽ | णी | जी ऽ | ऽ | ऽ | ऽ |
| प नी | ध प | ध प | म | ग म | गम | पध | नीसा |
| अ ल | ख ऽ | ऽ ऽ | ज | गायो | हो ऽ | ऽ ऽ | ऽऽ |
| सं | प | प ध | म | ग | रे | – | म म |
| ऽ | ऽ | रा ऽ | णी | जी | ऽ | ऽ | द्वा |
| ग | रे | ग | स | स | – | – | – |
| रे | था | ऽ | रे | आ | ऽ | ऽ | ऽ |
| स | — | — | — | | | | |
| यो | ऽ | ऽ | ऽ | | | | |
| २ | | | | × | | | |

### अंतरा

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| म | म ध | ध ध | ध ध | ध नी | नी | ध | प |
| वा | रा व | र स | व न | खंड | में | ता | प्यो |
| म | म म | मम | म प | ग ग | ग म | ग रे | स |
| था | रो तो | पार | नहीं | पायो | रे ऽ | ऽ सी | ता |
| रे | रे | म | म | प ध | पधनी | ध ध | प |
| ले | झो | ली | मां | गण | कोऽऽ | निक | स्यो |
| नी | नी | नी | नी | नीसं | सं | रें सां | रेंनी |
| पा | णी | को | पि | या | सो | राऽ | ऽणी |
| ध प | नी ध | प ध | म | म प | मपनीसा | प | ध म |
| जीऽ | द्वारे | थाऽ | रे | आयो | रेऽऽऽ | रा | ऽणी |
| ग रे | म म ग | रे ग | स | स | — | स | — |
| जीऽ | द्वारे | थाऽ | रे | आ | ऽ | यो | ऽ |
| × | | | | २ | | | |

एक घंटे की इस अभूतपूर्व नाटिका में एक भी क्षण ऐसा नहीं है जो दर्शकों का ध्यान बँटा सके। एक बार कठपुतली प्रेक्षालय में घुसा हुआ व्यक्ति सम्पूर्ण रामायण की समाप्ति तक अपने को उसी में खोया हुआ अनुभव करता है।

ऐसी सफल कृति प्रथम प्रयास में ही इतनी चमत्कृत होगई हो, ऐसी बात नहीं है। लगभग बारह बार इसके स्क्रिप्ट को घटाया-बढ़ाया तथा तोड़ा-मरोड़ा गया है। सन् १९६३ में यह पहली बार प्रदर्शन-योग्य हुई परन्तु इसके बाद भी दर्शकों की प्रतिक्रियाओं के अनुरूप इसमें काट-छाँट होती रही। १९६७ में इसमें आमूलचूल परिवर्तन किया गया। इसके बाद यह नाटिका रामायण की चौपाइयों की तरह ही दर्शकों में ऐसी रंजी-बंजी कि एक बार इसे जिसने भी देखलिया उसके हृदय-पटल पर यह सदा के लिए अंकित होगई।

यह नाटिका अखिल-भारतीय कठपुतली समारोह में प्रथम पुरस्कृत भी हुई। इसमें १०८ पुतलियाँ काम करती हैं और बारह परिचालक मंचित करते हैं। इस समय देश की यही एक ऐसी नाटिका है जो सर्वाधिक पेचीदा है और जिसके प्रदर्शन के पहले पुतली-नचैयों को कई घंटों तक पूर्वाभ्यास द्वारा अपने को पुतलीपात्रों के साथ आत्मसात् करना पड़ता है।

इस नाटिका को देखने के उपरान्त सभी दर्शक मंत्रमुग्ध हो काफी देर तक खड़े रह जाते हैं। उन्हें विश्वास नहीं होता कि नाटिका सम्पन्न हो चुकी है। अंत में परिचालक जब अपने हाथों में नन्हीं-नन्हीं पुतलियाँ लेकर रंगमंच के बाहर दर्शकमण्डप में आ उपस्थित होते हैं तो दर्शक यह देखकर चकित हो जाते हैं कि मंच पर पाँच-साढ़ेपाँच फीट के आकार की प्रतीत होने वाली ये पुतलियाँ बाहर आनेपर केवल फीट-डेढ़फीट की कैसे बन गईं?

## २. लंगोटी की माया

इसका आधार एक पौराणिक कथा है। इसमें एक साधु की लंगोटी की विविध लीलाओं का वर्णन है। उनकी लंगोटी को जब चूहे खाने लगते हैं तो बिल्ली पाली जाती है। बिल्ली को पालने पर उसके दूध की समस्या उठ खड़ी होती है फलतः उसके लिए गाय रखी जाती है। गाय को संभालने के लिए तत्काल उनके विवाह की बात आ खड़ी होती है। साधु अन्ततोगत्वा इस बंधन में भी फँसता है और आवश्यकता से अधिक बच्चे पैदा करने पर तबाह होजाता है। परिणाम यह होता है कि उसका घरू जमीन-जायदाद तथा आश्रम बिकता हुआ नजर आता है।

नाटिका के हास्य-तत्त्व एवं चूहे-बिल्ली के क्रियाकलाप भरपूर मनोरंजन करते हैं। परिवार नियोजन की दृष्टि से भी यह नाटिका बड़ी सफल सिद्ध हुई है। इसके अनेक प्रदर्शन पंजाब, हरियाणा, मध्यप्रदेश तथा राजस्थान में दिए जाचुके हैं।

## ३. संगठन में बल

यह नाटिका उत्तरप्रदेश की एक लोककथा पर आधारित है। इसके समस्त पात्र पशु-पक्षी ही हैं। इसमें संगठन-शक्ति का बड़ा ही प्रभावशाली चित्रण मिलता है। जंगल का शक्तिशाली हाथी जब गौरैया के नन्हें-नन्हें बच्चों को कुचलने लगा तो मेढक, मधुमक्खी तथा कठफोड़वा मिलकर बड़ी युक्ति से दुष्ट हाथी का सफाया करते हैं। यही इसका मूल कथा-बिंदु है। पशु-पक्षियों के माध्यम से सम्पूर्ण नाटिका को संयोजित कर सामाजिकों पर अधिकाधिक प्रभाव डालने की दृष्टि से सामरजी की यह कृति सर्वथा एक नवीन एवं अनूठा प्रयोग है।

कठपुतली रंगमंच की सर्वमान्य सीमा पाँच फीट की चौड़ाई और ढाई-तीन फीट की ऊँचाई से अधिक नहीं होती। इस सीमा में रहकर हाथी जैसे भीमकाय पशु और मधुमक्खी जैसे सूक्ष्मकाय जन्तु को प्रस्तुत करना सरल काम नहीं है। यदि हाथी को मधुमक्खी के अनुपात में उतना ही बड़ा बताया जाय और मधुमक्खी को हाथी के अनुपात से उतनी ही छोटी बताया जाय तो परिणाम यह होगा कि हाथी तो रंगमंच की समस्त मान्य सीमा में भी नहीं समा पायेगा और मधुमक्खी रंगमंच पर सक्रिय होती हुई भी मानवीय आँखों से सदैव ओझल ही रहेगी। परन्तु सामरजी की पैनी दृष्टि, पुतली-नाट्य-तत्त्वों की प्रगाढ़ जानकारी तथा नाट्य-प्रभाव की पूर्ण प्रतीति ने इस नाटिका को प्रथम दौर में ही सफलता के चरम शिखर पर पहुँचा दिया है।

इस नाटिका के पुतली-निर्माण में पुतली-निर्माताओं को जो कठिनाई हुई वह पुतलीपात्रों के अंग-प्रत्यंगों से सार्थक अर्थ निकालने योग्य भंगिमाएँ प्रकट करने की थी। इन अमानवीय पात्रों पर मानवी-भाषा का आरोपण और उनके साथ उनके अंग-प्रत्यंगों का समन्वीकरण सर्वाधिक कठिन था। मानवी-वाचन के योग्य व्यवहारीकरण की समस्या भी इसमें निरंतर अभ्यास से हल करली गई है।

इस नाटिका की विशेषता इसके पात्रों के विविध गीत एवं नृत्य हैं। ये गीत मानव-गीतों की शैली में रचित नहीं हैं। इनमें भी अनेक प्रयोग किए गए और अंत में यही निष्कर्ष पाया गया कि इन पुतलियों पर मानवी-वाचन की भांति मानवी-नृत्य-गीत भी आरोपित नहीं होते। मेढक के अंग पर जो नृत्य-मुद्राएँ आरोपित की गई वे मेढक की स्वाभाविक क्रियाओं के लिए इतनी उपयुक्त लगती हैं कि दर्शक-समाज आह्लादित हुए बिना नहीं रहता। जिन धुनों पर इसके नृत्य आयोजित किए गये हैं उनके साथ कठफोड़वा अपनी चोंच

से ताल देता है और मधुमक्खी अपने कण्ठ से सारंगी बजाती है। कभी-कभी यह सारंगी मानवी-धुन से विपरीत स्वरों की बेमेल खिचड़ी सी प्रतीत होती है परन्तु ताल-सुर एवं स्वर-संयोजन की दृष्टि से यह अत्यंत उपयुक्त एवं अनूठी लगती है।

नाटिका का समस्त दृश्य-विधान भी पात्र एवं कथानकों की विशिष्ट भावभूमि लिए प्रयुक्त हुआ है। इसमें दस पुतलियाँ काम करती हैं। बाईस मिनिट की यह नाटिका सामरजी की सफलतम नाटिकाओं में से एक है।

## ४. मुगलदरबार

यह नाटिका पारम्परिक कठपुतली-नाटिका 'अमरसिंह राठौड़' के मुगल-दरबार की ही प्रतिकृति है। अंतर केवल इतना ही है कि अमरसिंह राठौड़ के मुगलदरबार में जहाँ नाच-गान के अतिरिक्त अनेक रोमांचकारी घटनाओं का सवाचन प्रस्तुतीकरण है वहाँ इस नाटिका में केवल उसके दरबार मात्र की ही झाँकी देखने को मिलती है। इसमें मुगल बादशाह को भी अपने हाथी, घोड़ों तथा ऊँटों की सवारी के साथ दर्शाया गया है। दीवानखास में हाथी, घोड़ों तथा बादशाही लवाजमों का प्रवेश ऐतिहासिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से जहाँ असंगत प्रतीत होता है वहाँ वह कठपुतली-विज्ञान एवं नाट्य-तत्त्वों से युक्त सर्वथा सहज एवं स्वाभाविक लगता है।

कठपुतलीशास्त्र ही एक ऐसा शास्त्र है जहाँ पुतलीपात्रों का आकार-प्रकार उनके गुण-दोषों से शासित रहता है, न कि उनके शरीर-विज्ञान से। यही कारण है कि कभी-कभी हाथी से भी बड़ा उस पर सवारी करने वाला सवार दिखाया जाता है। कुछ पात्रों के हाथ उनके पाँवों से भी बड़े होते हैं। कुछ का मुँह उनके समस्त शारीरिक अंगों से भी बड़ा दिखाया जाता है। कठपुतली नाटक ही एक ऐसा नाटक है जहाँ हवाईजहाज घरों में घुसते हुए पाये जाते हैं, हाथी मकानों की छत पर चढ़ते हुए देखे जाते हैं और तितलियाँ जैसे जीव-जन्तु हाथी की सवारी करते हुए और उसे पूर्णतः अपने अंकुश में रखते हुए पाये जाते हैं।

इन नाटिकाओं में पेड़-पौधे मनुष्य से बातें करते हैं और अपना दुःख-दर्द सुनाते हैं। राक्षस अपने पूर्ण रूपों में प्रकट होते हैं और मानवी संबंध स्थापित करते हैं। मुगलदरबार में समस्त असंगतियाँ दर्शकों को बड़ी ही मनोहारी लगती हैं। इसमें जयपुर के राजा घोड़े पर ठेठ दरबारखास में आकर अपने नियत स्थान पर ही उतरते हैं। बादशाह का हाथी सिंहासन के पास आकर

बा-अदब खड़ा रहता है। नर्तकी जब नाचती है तो हाथी विभोर हो उठता है, घोड़ा प्रसन्नता के मारे बार-बार पूँछ हिलाना प्रारंभ कर देता है और ऊँट नृत्य से प्रभावित होकर अपनी गर्दन ऊँची-नीची करता है।

इस दरबार में बारी-बारी से नर्तक-नर्तकियाँ, साँप-सपेरे, कच्छीघोड़ी-नचैया, नट-नटनियाँ, बहुरूपिए, पट्टेबाज, घोड़े के कर्तबिये, डुगडुगीवाले, ढोल-नक्काड़े व नफीरी वाले, तबला-सारंगी वाले, ऊँटों के कर्तब दिखलाने वाले, भांड-भवाई आदि अपनी-अपनी कलाएँ प्रदर्शित करते हैं। इनाम-इकराम के लिए चोबदार उनको बादशाह के यहाँ पेश करता है और उनके विदा होने पर डुगडुगीवाला डुगडुगी बजाकर दरबार की शाही मर्यादा का निर्वाह करता है।

प्रदर्शनोपरान्त बादशाह की सवारी सजती है। पुनः हाथी, घोड़े और ऊँट सभामंडप में लाए जाते हैं। नर्तकी अपने हाथों में हार लिए नाचती-ठुमकती आती है और बादशाह के गले में हार डालकर सोल्लास विदा लेती है। डुगडुगीवाला प्रदर्शन-समाप्ति-सूचक अन्तिम बार डुगडुगी बजाता है और दर्शक मंत्रमुग्ध होकर करतल-ध्वनि करते हैं।

यह 'मुगलदरबार' वह कृति है जिसकी रचना केवल विदेशी दर्शकों के लिए ही की गई थी। रुमानिया के तृतीय अंतर्राष्ट्रीय समारोह में इसी कृति को पारम्परिक कठपुतलियों का प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ। इसमें कुल ३२ पुतलियाँ काम करती हैं जो विक्रमादित्य के समय की पारम्परिक पुतलीनाटिका 'सिंहासनबत्तीसी' की याद को ताजा करती है।

### ५. कठपुतली सर्कस

यह एक सर्कस-नाटिका है। इसमें असली सर्कस के क्रियाकलापों का हूबहू प्रतिबिम्ब देखने को मिलता है।

सर्कस जैसे जटिल प्रयोग को कठपुतलियों के माध्यम से रंगमंच पर प्रस्तुत करना कोई आसान काम नहीं है। सर्कस के जटिल रंगमंच से पुतलियों को लाकर खुले में बिना रंगमंच के प्रस्तुत करना सामरजी की ही सूझबूझ एवं कला-प्रतिभा का चमत्कार है। यह सर्कस लोहे के पाइपनुमा जंगले से निकलकर कठपुतलीकारों की उँगलियों पर उतर आया है। पुतलीकार काले कपड़े धारणकर जब काले परदे की पृष्ठभूमि में पुतलियाँ प्रदर्शित करते हैं तो केवल पुतलियाँ ही दिखाई देती हैं। उनके परिचालक दर्शकों की आँखों से ओझल ही रहते हैं। उन्हें छिपाने के लिए ऊपर-नीचे, अगल-बगल में कहीं परदों का प्रयोग

नहीं होता। पुतलियों पर रोशनी फेंकनेवाले बिजली के विशिष्ट प्रसाधन भी सामरजी की उपज के द्योतक हैं। इस प्रयोग से पुतलियों को एक ही बार में हजार-दोहजार दर्शक आसानी से एक साथ देख सकते हैं जबकि औपचारिक रंगमंच पर प्रस्तुत होनेवाली पुतलियों को २००,४०० से अधिक लोग नहीं देख सकते।

इन नाटिकाओं के अतिरिक्त सामरजी द्वारा लिखित अन्य नाटिकाओं में सामाजिक सद्वृत्तियों, पारिवारिक उलझनों, पड़ौसी-रिश्तेनातों तथा राष्ट्रीय भावनाओं से संबंधित बड़े रोचक प्रसंग मिलते हैं। शैक्षणिक उपयोग की दृष्टि से भी ये नाटिकाएँ वड़ी सफल सिद्ध हुई हैं। ■

6

# नृत्य-नाट्य-प्रणेता

डॉ० महेन्द्र भानावत

साहित्यिक नाटकों की गौरवमय परम्परा के प्रयोक्ता के रूप में पर्याप्त ख्याति अर्जित कर सामरजी का कृतिकार-रूप लोकमंच की ओर अभिमुख हुआ। लोकमंच की यह धरती लोकरंगी विराट् परम्पराओं की एक ऐसी रंगस्थली थी जहाँ मंच और रंग की सघनता तो थी पर उसका संगठित रूप जैसे शनैः शनैः श्रीहीन हुआ जारहा था। इसके अभाव में लोकजीवन अपने अतीत की लीक पर अनगढ़ता की साँसें खींच रहा था। ऐसे समय में सामरजी ने लोकमंच की नकेल अपने हाथ में लेकर न केवल उसे प्राणवान् ही बनाया अपितु लोकाधारित अनेक नृत्य-नाटिकाओं के रचना-प्रदर्शन द्वारा विश्व-मानचित्र पर प्रतिष्ठा का एक उच्च कीर्तिमान स्थापित करने में भी गौरवपूर्ण यश अर्जित किया। इन नाटिकाओं का प्रणयन राजस्थान की सुप्रसिद्ध लोकनाट्य-विधाएँ — तुर्रकिलंगी, नौटंकी, चिड़ावी, कुचामणी, रासधारी तथा रम्मत शैली पर किया गया है। नाट्य की ये विधाएँ यहाँ 'ख्याल' नाम से लोकानुरंजन की सशक्त माध्यम रही हैं। अपनी कृतियों में सामरजी ने इन ख्यालों की विशिष्ट गायकियों, धुनों तथा तोड़ों-मुरकियों को समाविष्ट कर नृत्य-चापों की नाना अदायगियों में मंच को जो रूप दिया है वह भारतीय लोकमंच का अद्भुत शिल्प-सौष्ठव है।

इन नाटिकाओं की कथा राजस्थानी लोकरंग की वह गंध-सुगंध है जो अपने पारम्परिक प्रेम, शृंगार और पूजा-प्रतिष्ठा की मधुर किन्तु होली थपकियों से और अधिक गाढ़ी बनती गई है। मीराँ, मूमल और मारू को कौन नहीं जानता? न केवल राजस्थान और भारत की माटी ही इनकी धड़कनों से सुवासित हुई है अपितु विदेशी रंगीनियों ने भी इनको अपने में आत्मसात् कर अपने रंगों को गहवारा है। इनकी स्वाँस-सिराओं में अगे-पगे यहाँ के लोकजीवन

ने जहाँ एक ओर इनमें अपनी जिजीविषाओं की शाश्वतता पाई है वहाँ दूसरी ओर इनके सदाबहार प्रेम-शृंगार में अपने चिर-यौवन को सदैव चिरजीवी बनाया है।

इन कथाओं पर आधारित सामरजी की नाट्य-कृतियाँ – 'ढोलामारू', 'मीराँमंगल', 'म्हाने चाकर राखोजी', 'मूमल', 'राष्ट्रपूजा', 'इन्द्रपूजा', 'गंगापार', 'पणिहारी', 'गवरी', 'रासधारी' आदि इतनी लोकप्रिय हुईं कि अबतक इनके भारतव्यापी सैकड़ों प्रदर्शन दिये जाचुके हैं।

## १. ढोलामारू

'ढोलामारू' पूंगल के राजा पिंगल की कुमारी मारवण तथा नरवर के राजा नल के कुमार साल्ह अथवा ढोला की सुप्रसिद्ध प्रेमगाथा है। अत्यंत छोटी उम्र में विवाह होने के कारण मारवण ससुराल नहीं भेजी गई। जब वह बड़ी होजाती है तो एक दिन स्वप्न में उसकी साल्ह से भेंट होजाती है परन्तु जगने पर जब वह उसे अपने पास नहीं पाती है तो वियोग में निःसाँसें भरने लगती है। पिंगल को जब इस बात का पता चलता है तो वह ढोला को बुलाने के लिए प्रतिदिन नए-नए सांडनी-सवारों को भेजता है पर कोई भी लौटकर नहीं आता है। इसी बीच एक सौदागर मालवणी (ढोला की दूसरी पत्नी) द्वारा सांडनी-सवारों को मरवा डालने की खबर राजा को देता है। यह सोच ढोला ढाढ़ियों के साथ संदेश भेजता है और मारवण से मिलने जाने की तैयारी करता है पर मालवणी नाना प्रकार के बहाने बनाकर ढोला को मिलने जाने से रोकती है। ढोला नहीं रुकता है और किसी तरह मारवण के पास पहुँच जाता है। वह कुछ दिन वहाँ रहकर मारवण सहित नरवर लौटता है जहाँ दोनों अपना शेष जीवन व्यतीत करते हैं।

'ढोलामारू' सामरजी की प्रथम नाटिका है। कुचामण के लच्छीरामकृत 'ढोलामारू' ख्याल का प्रदर्शन देखकर सामरजी को इस रचना की प्रेरणा मिली। इस नाटिका के गीतों एवं उसकी धुनों को यथावत् रखा गया है। केवल उनकी पुनरावृत्तियों को संशोधित एवं संपादित करके समस्त नाटिका को आधुनिक रंगमंच के योग्य बनाया गया है। पारम्परिक नाटिका के जो सूत्र एक दूसरे से नहीं जुड़ते थे उनको भी कुछ नवरचित सूत्रों से जोड़ा गया है। लगभग दस घंटे की प्रदर्शनावधि की यह नाटिका सामरजी के प्रयत्न से केवल ढाई घंटे की एक सारगर्भित कृति सिद्ध हुई है।

लच्छीरामकृत पारम्परिक नाटिका में पात्रों की भाव-भंगिमाओं एवं वेशभूषाओं में कोई वैविध्य नहीं था। प्रायः सभी पुरुष-पात्र एक ही प्रकार की

पोशाक पहिनते थे। स्त्री-पात्रों की पोशाकों में भी कोई अंतर नहीं था। पात्रों के स्तर, गुण-दोष, पद एवं वर्गभेद के अनुसार पोशाकों का चुनाव नहीं होता था। कहीं-कहीं पहिनावे में भी ऐतिहासिक एवं समसामयिक तथ्यों का खयाल नहीं रखा जाता था। चलते प्रदर्शन में मूल कथानक को छोड़ अनेक असंवद्ध प्रसंगों का समावेश आँखों और कानों को वहुत ही अरुचिकर लगता था।

सामरजी ने अपने ख्याल-संशोधन-कार्य में सर्वप्रथम पारम्परिक ख्याल पर अपना प्रयोग किया जिसमें उन्हें आशातीत सफलता मिली। पारम्परिक ख्यालशैली में विशेषकर कुचामणी शैली में गीतों की धुनों एवं स्वर-रचनाओं का जो लालित्य मिलता है वह आधुनिक नृत्य-नाटिकाओं में ढूंढे भी नहीं मिल सकता। 'ढोलामारू' की इस अनुपम धरोहर को सामरजी ने अक्षुण्ण रखते हुए उसकी असंयत शब्दावली में अवश्य परिवर्तन किया। इससे इस कृति का साहित्यिक रूप निखर गया। ख्याल की पारम्परिक ख्यालशैली में भी किसी प्रकार का परिवर्तन उचित न समझ उसे यथावत् ही रखा।

एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन जो सामरजी द्वारा इस विशिष्ट कृति में उल्लेखनीय है वह है – गीतों की पृष्ठगायकी। यह संभव नहीं कि सभी अभिनेता जहाँ नर्तन आदि कलाओं में प्रवीण हों वहाँ वे गाने में भी अच्छे हों। अतः उनकी अंग-भंगिमाओं एवं नृत्य-चालों को यथावत् रखते हुए उनके स्वरों को पृष्ठगायकी के रूप में अति प्रवीण गायकों को दे दिया, जिससे नर्तक की शक्तियाँ अपने वहुमुखी अभिनयकार्य में नष्ट न हों। यह प्रयोग भी एक तरह से सफल इसलिए माना जाना चाहिए कि जो ख्याल पहले गायकी-प्रधान थे वे अभिनय-प्रधान होगये। अभिनेता जब स्वयं गाता था तो वह श्रोताओं की मांग पर अपने गीतों को लम्वाने के प्रलोभन को रोक नहीं सकता था। पृष्ठगायकी की इस शैली में अभिनेता मात्र उतना ही गाने का उपक्रम कर सकता है जितना पृष्ठगायकी का प्रभाव; जो कि वहुधा अल्प ही होता है, दर्शकों पर रहता है।

यहाँ 'ढोलामारू' के दो गीत दिये जा रहे हैं। प्रथम गीत में मारवण अपनी सखियों को स्वप्न में ढोला से मिलाप होने की वात सुना रही है। सखियाँ उत्तर में सपने को मात्र जाल जंजाल वताकर अपना मंतव्य प्रकट कर रही हैं –

## पहला गीत

देख्यो सपना में सालव कुमार, हाँ सपना में सालव कुमार ।। देख्यो० ।।

रैण की बात बताऊँ सजनी सपना में भई छूँ निहाल ।
हँस हँस पीयू कण्ठ लगावे वोही साजनियो सिरदार ।। देख्यो० ।।

कै तो सखी री सुणो जी बाईसा सुणलो म्हारी बात ।
जो थाने सपनो आवियो बाईसा सपनो है जाल जंजाल ।। देख्यो० ।।

कमर कटारी बांकड़ी रे असल गेंडा री ढाल ।
हँस हँस पीयू कण्ठ लगावे हाथां में मेंदी रचगई लाल ।। देख्यो० ।।

### ताल दीपचन्दी, मात्रा १४

#### स्थायी

| | | | | | | | | | | रे | – | ग | – |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | | | | | | | | दे | ऽ | ख्यो | ऽ |
| म | प | – | मप | धप | म | – | ग | ग | रे | सा | – | नी | – |
| स | प | ऽ | नाऽ | ऽऽ | में | ऽ | सा | ल | ऽ | व | ऽ | कु | ऽ |
| सा | – | – | – | – | – | – | – | – | सा | गम | पध | नीसां | नी |
| मा | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | र | हाँ | ऽऽ | ऽऽ | ऽ |
| नी | नी | – | नी | – | सां | – | नी | नी | ध | प | – | म | – |
| स | प | ऽ | ना | ऽ | में | ऽ | सा | ल | ऽ | व | ऽ | कु | ऽ |
| ग | रे | – | – | – | – | – | – | – | रे | रे | – | ग | – |
| मा | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | र | दे | ऽ | ख्यो | ऽ |
| × | | | २ | | | | ० | | | ३ | | | |

## अंतरा

| | | | | | | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| प़ | – | – | नी़ | – | नी़ | – | सा | – | – | सा | – | सा | – |
| रे | ऽ | ऽ | ण | ऽ | की | ऽ | वा | ऽ | ऽ | त | ऽ | व | ऽ |
| प़ | – | – | नी़ | – | – | – | सा | सा | – | ग | रे | ग | – |
| ता | ऽ | ऽ | ॐ | ऽ | ऽ | ऽ | स | ज | ऽ | नी | ऽ | ऽ | ऽ |
| ग | प | – | म | – | म | – | ग | ग | रे | सा | – | नी़ | – |
| स | प | ऽ | ना | ऽ | में | ऽ | भ | ई | ऽ | छूं | ऽ | नि | ऽ |
| सा | – | – | – | – | – | – | – | – | – | – | – | – | सा |
| हा | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ल |
| म | म | – | म | – | म | – | म | – | – | म | – | ग | म |
| हँ | स | ऽ | हँ | ऽ | स | ऽ | पी | ऽ | ऽ | यू | ऽ | ऽ | ऽ |
| रे | – | – | म | – | म | – | प | – | – | मप | नीसां | नी | – |
| कं | ऽ | ऽ | ठ | ऽ | ल | ऽ | गा | ऽ | ऽ | वे ऽ | ऽऽ | ऽ | ऽ |
| नी | – | – | सां | – | रें सां | – | नी॒ | नी॒ | ध | प | – | म | म |
| वो | ऽ | ऽ | ही | ऽ | सा | ऽ | ज | नि | ऽ | यो | ऽ | सि | र |
| ग | रे | – | – | – | – | – | – | – | रे | रे | – | ग | – |
| दा | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | र | दे | ऽ | ल्यो | ऽ |
| × | | | २ | | | | ० | | | ३ | | | |

## दूसरा गीत

कविजन हाथ संदेसड़ो, जाय ढोला ने दीज्यो ।
म्हें तो हिमाले हालसां थें नरवरगढ़ रीज्यो ॥
या प्रेमपत्रिका दीज्यो रे म्हारा मारू ने जाई कीज्यो,
आंसू पड़-पड़ अँगिया टपके, बदन गुलाबी भींज्यो,
कर-कर चिंता काली पड़ गई सूख सूख तन छीज्यो ॥

### ताल कहरवा, मात्रा ८

#### स्थायी

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| नी नी | नी नी | नी | नी नी | नी | सांनी | सां | – |
| क वि | ज न | हा | थ सं | दे | स ड़ो | ऽ | ऽ |
| म | प प | नी | नी | नी | सां | – | – |
| जा | य ढो | ला | ने | दी | ज़्यो | ऽ | ऽ |
| ध | ध ध | ध | ध | धनी | सांनी | सांनी | ध प |
| म्हें | तो हि | मा | ले | हा ऽ | ऽऽ | ऽल | सांऽ |
| रे | म म | प | म प | नीसां | प | प ध | म |
| थें | न र | व | र ऽ | ऽऽ | ऽ | गढ़ | री |
| ग रे | ग | सा | – | रे | – | म | म |
| ज्योऽ | ऽ | या | ऽ | प्रे | ऽ | म | प |
| प | – | नी | – | सं | – | – | सां रें |
| त्रि | ऽ | का | ऽ | दी | ऽ | ऽ | ज्योऽ |
| × | | | | २ | | | |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| नी | ध | प | म | रे | रे | म | प |
| रे | ऽ | म्हा | रा | ऽ | मा | रू | ने |
| म प | ध | म | म | ग रे | रे | ग | सा |
| जाऽ | ऽ | ई | ऽ | कीऽ | ज्यो | हाँ | या |

## अंतरा

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| रे | रे | ग ग | म म | रे ग | ग रे | सानी | सा |
| आँ | सू | प ड़ | प ड़ | अँगि | या ऽ | टप | के |
| रे रे | रे रे | म | प नी | ध | प | – | – |
| व द | न गु | ला | वी ऽ | भीं | ज्यो | ऽ | ऽ |
| म म | प प | नी | नी | सां | सां | नीसां | सां सां |
| क र | क र | चिं | ता | का | ली | प ड़ | ग ई |
| प | नी नी | सां | सां रें | नी | ध | प | म |
| सू | ख सू | ख | त न | छी | ज्यो | म्हा | रा |
| रे | रे | म | प | ध प | ध | म | म |
| ऽ | मा | रू | ने | जाऽ | ऽ | ई | ऽ |
| ग रे | रे | ग | सा | | | | |
| की ऽ | ज्यो | हाँ | या | | | | |
| × | | | | २ | | | |

सामरजी : अपने प्रिय पुत्र गोविंद के साथ प्रधानमंत्री श्री लालवहादुर शास्त्री को कला मंडल की गतिविवियों से अवगत कराते हुए [१९६५]

मुस्कान और गुलाव : सुखाड़ियाजी और सामरजी [१९६६]

सामरजी : लंदन के विश्वप्रसिद्ध कठपुतली विशेषज्ञ फिलपोट के साथ उनके कठपुतली वर्कशॉप में [१९६५]

राष्ट्रपति श्री वी. वी. गिरि और सामरजी : एक सांध्य-भेंट में [१९७०]

इस गीत में ढोला को ढाढ़ियों के हाथ संदेश भेजती हुई मारवणी कहला रही है कि – 'यदि तुम नहीं आए तो मैं हिमालय जाकर गल-मर जाऊँगी। चाहे तुम नरवरगढ़ ही रहना।' ढाढ़ी से मारवण अपना संदेश (प्रेमपत्रिका) देती हुई कहती है कि इसे ढोला को देकर कहना कि – 'तुम्हारे विरह में मारूणी की आँखों से निरंतर आँसू गिरकर अँगिया पर टपक रहे हैं जिससे उसका गुलावी वदन भीगा जारहा है। चिंता के मारे वह काली पड़ गई है और उसका शरीर छीज-छीजकर क्षीण हुआ जारहा है।'

इस गीत की गायकी भवाइयों द्वारा प्रदर्शित 'ढोलामारू' में भी चलती है, किन्तु इसमें रासधारी तथा कुचामणी ख्यालों का विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

## २. म्हाने चाकर राखोजी

यह नाटिका मीराँ-जीवन पर आधारित है। बाल्यावस्था में मेड़ता में आये हुए एक साधु से मीराँ ने गिरधरगोपाल की मूर्ति प्राप्त की। उसकी यौवनावस्था में उसके पिता ने चित्तौड़ के सिसोदिया राणा विक्रमादित्य के छोटे भाई भोजराज के साथ उसका विवाह तय कर दिया। राणा चित्तौड़ से बरात सजाकर मेड़ता आये, परन्तु मीराँ ने मातापिता के बहुत समझाने पर भी यह विवाह स्वीकार नहीं किया। अंत में उसके गुरु ने यह युक्ति बतलाई कि विवाह के समय यदि मीराँ और राणा के बीच में गिरधरगोपाल की मूर्ति रखदी जाय तो मीराँ को विवाह करने में शायद कोई अड़चन न हो। ऐसा ही किया गया।

विवाह के उपरान्त मीराँ मेड़ता छोड़कर चित्तौड़ चली गई। चित्तौड़ में प्रथम मिलन पर ही राणा विक्रम ने भोज को मातृभूमि के रक्षार्थ युद्ध में जाने को प्रेरित किया। भोज युद्धभूमि में गये और वहाँ काम आगये। इससे मीराँ को आजीवन वैधव्य का अभिशाप ढोना पड़ा। साधु-संतों के साथ उसने कीर्तन, भजन, नृत्यादि में अपना समय व्यतीत करना प्रारंभ किया। राणा विक्रम को यह सब अच्छा नहीं लगा फलतः उन्होंने मीराँ को ऐसा करने से रोका, पर मीराँ नहीं मानी। अन्त में राणा ने मीराँ को मारने के लिए साँप और विष भेजा, परन्तु मीराँ पर उसका कोई कुप्रभाव नहीं पड़ा। वह महल छोड़कर अपने साधु-संगियों के साथ वृन्दावन चली गई। वहाँ उसने स्वप्न में भगवान् कृष्ण का रास देखा। इधर राणा ने मीराँ को लिवालाने के लिए दूत भेजे, परन्तु मीराँ नहीं लौटी। अन्त में वृन्दावन छोड़कर मीराँ द्वारिका चली गई। वहाँ उसे भगवान् के दर्शन हुए। उसने अपना नश्वर शरीर प्रभु के चरणों में सदा के लिए समर्पित कर दिया। इसी समय मीराँ के गुरु रैदास का

आगमन होता है और उन्हें मीराँ के मृत शरीर के स्थान पर फूलों का ढेर दिखाई देता है।

इस कृति का समस्त रचना-तंत्र ख्यालों की विविध शैलियों पर आधारित है। मीराँ अपनी बाल्यावस्था में अपने घर पर आये हुए साधु से गिरधर-गोपाल की मूर्ति प्राप्त करने का आग्रह करती है तब गुरु और मीराँ के बीच जो संवाद होता है उसमें रासधारी पर आधारित गायकी का सुन्दर निर्वाह हुआ है। इसी तरह विवाह के उपरान्त जब मीराँ और भोज प्रथम बार चित्तौड़ में मिलते हैं तो उनमें पारस्परिक वैवाहिक संबंध को लेकर बड़ा मार्मिक विवाद चलता है, जिसमें राणा मीराँ से पूछते हैं –

**राणा** – कांई लागे गोपाल मीराँ थारे कांई लागे गोपाल ?
रंगमहल में आवो मीराँ कर सोला सिणगार।
खेलो पासा प्रेम का जी सिसोद्या रे लार।
मीराँ थारे कांई लागे गोपाल ?

**मीराँ** – गिरधर म्हारो सांचो प्रीतम झूठो है संसार।
दासी तिहारी हूँ राणा पर गिरधर प्राणाधार।
राणा म्हाने प्यारा लागे गोपाल ॥

**राणा** – गिरधर थारो अंतरयामी हूँ थारो भरतार।
दुविधा ही दुविधा में म्हारो जीवन बन गयो भार।
मीराँ थारे कांई लागे गोपाल ?

इस गीत का नृत्य कुचामणी ख्याल में प्रयुक्त नृत्य का सुन्दर उदाहरण है।

ताल कहरवा, मात्रा ८

**स्थायी**

| | | | | | | | | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| – | – | सां | सां | सां | – | सां | – | नी | – | – | – | ध | – | प | – |
| ऽ | ऽ | कां | ऽ | ई | ऽ | ला | ऽ | गे | ऽ | ऽ | ऽ | गो | ऽ | ऽ | ऽ |
| प | ध | नी | सां | – | – | सां | नी | ध | – | ध | प | म | – | म | – |
| पा | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ल | ऽ | मी | ऽ | राँ | ऽ | था | ऽ | रे | ऽ |
| × | | | | २ | | | | × | | | | २ | | | |

| – | – | प | ध | प | – | म | – | ग | – | – | – | रे | – | रे | ग |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ऽ | ऽ | कां | ऽ | ई | ऽ | ला | ऽ | गे | ऽ | ऽ | ऽ | गो | ऽ | ऽ | ऽ |
| सा | – | – | – | – | – | – | सां | | | | | | | | |
| पा | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ल | | | | | | | | |
| × | | | | २ | | | | × | | | | २ | | | |

## अंतरा

| – | – | म | – | म | – | म | – | म | – | म | – | म | – | – | – |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ऽ | ऽ | रं | ऽ | ग | ऽ | म | ऽ | ह | ऽ | ल | ऽ | में | ऽ | ऽ | ऽ |
| – | – | प | – | – | – | प | – | प | ध | नी | सां | नी | – | – | – |
| ऽ | ऽ | आ | ऽ | ऽ | ऽ | वो | ऽ | मी | ऽ | ऽ | ऽ | राँ | ऽ | ऽ | ऽ |
| – | – | प | – | प | – | प | – | ध | – | – | – | नी | – | नी | – |
| ऽ | ऽ | क | ऽ | र | ऽ | सो | ऽ | ला | ऽ | ऽ | ऽ | सि | ऽ | ण | ऽ |
| सां | – | – | – | – | – | सां | – | – | – | सां | – | – | – | सां | – |
| गा | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | र | ऽ | ऽ | ऽ | खे | – | ऽ | ऽ | लो | ऽ |
| ध | – | – | प | म | – | – | – | – | – | प | – | – | – | प | – |
| पा | ऽ | ऽ | ऽ | सा | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | प्रे | ऽ | ऽ | ऽ | म | ऽ |
| प | ध | नी | सां | नी | – | – | – | ध | – | सां | – | – | – | सां | ऽ |
| का | ऽ | ऽ | ऽ | जी | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | सि | ऽ | ऽ | ऽ | सो | ऽ |
| नी | – | – | – | ध | – | प | – | प | ध | नी | सां | – | – | सां | नी |
| द्या | ऽ | ऽ | ऽ | रे | ऽ | ऽ | ऽ | ला | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | र | ऽ |
| × | | | | २ | | | | × | | | | २ | | | |

| ध | – | ध | पं | म | – म | | – | – | – | प | ध | प | – | म | – |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| मी | ऽ | राँ | ऽ | था | ऽ रे | | ऽ | ऽ | ऽ | कां | ऽ | ई | ऽ | ला | ऽ |
| ग | – | – | – | रे | – रे | | ग | सा | – | – | – | – | – | सा | – |
| गे | ऽ | ऽ | ऽ | गो | ऽ ऽ | | ऽ | पा | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ल | ऽ |
| × | | | | २ | | | | × | | | | २ | | | |

इसी प्रकार मीराँ के दादा दूदाजी जिस समय मीराँ से विवाह स्वीकार करने का आग्रह करते हैं उस समय दोनों में जो संवाद होता है उसमें कुचामणी ख्याल की संवाद-परम्परा का निर्वाह पाया जाता है। यथा–

दूदा– सुण सुता हमारी वाई कुण थारी मति भरमाय दी।
वाबुल ने बूँटी अमरत की घूँटी सतगुरु पाय दी ॥ सुण० ॥
विरथा मन में हठ क्यूं धारी, पिता कहै समझाय।
वींद वण्यो मांडो तण्यो जी कई राणो बैठ्यो आय।
राणो बैठ्यो आय ठिकाणो मेड़ता को लाजे जी।
एक वार चित्तौड़ चलीजा अठे बुरी मत वाजे जी ॥ सुण० ॥

मीराँ – कृष्णविहारी सकल सिंगारी आदि अनादि पिव मेरा।
सुरता दुलहन हिलमिल आवे मेरा सिखर पर है डेरा।
मेरा सिखर पर डेरा जिन घर अनहद वाजा वाजे जी।
भजन रंग चढ़ी भ्रकुटि सोहे सुणकर दिल में छाजे जी।
वाबुल ने बूँटी अमरत की घूँटी सतगुरु पाय दी ॥ सुण० ॥

ताल कहरवा, मात्रा ८

**स्थायी**

| | | | | | | | सानी |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | | | | | सुण |
| स | सम | मम | मग | मप | प | – | पम |
| सु | ताऽ | हमा | रीऽ | वाऽ | ई | ऽ | कुण |
| × | | | | २ | | | |

| प ध | ध | प प | म म | ग रे | ग रे | सा | स नी |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| था ऽ | री | मति | भ र | मा ऽ | ऽ य | दी | वा ऽ |
| स म | म ग | म प | प | – | प ध | ध ध | ध |
| बु ल | ने ऽ | बूँ ऽ | टी | ऽ | अ म | र त | की |
| प | मग | मप | मम | ग रे | ग रे | स | सानी |
| घूँ | टीं ऽ | सत | गुरु | पा ऽ | ऽ य | दी | सुग |

**अंतरा**

| नी नी | नी | नी नी | नी | नीसां | सां | सां | सां |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| बि र | था | म न | में | हठ | क्यूँ | धा | री |
| नी सां | नीध | प | प प | प ध | सांनी | ध प | स |
| पिता | ऽक | है | स म | झा ऽ | ऽऽ | ऽऽ | य |
| ग | ग ग | ग | ग | म | म म | – म | म – |
| वीं | द व | ण्यो | मां | डो | तण्यो | ऽजी | क ई |
| ग | म ग | रे | रे | स | स | – | – |
| रा | णो ऽ | वै | ठो | द्वा ऽ | र ऽ | ऽ | ऽ |
| × | | | | २ | | | |

| सा | स म | म | म ग | म प | प प | प | प म |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| रा | णो ऽ | वैं | ठो ऽ | द्वा ऽ | र ठि | का | णो ऽ |
| ध | – | ध ध | पवनीसं | ध | ध | प | – |
| मे | ऽ | ड़ता | को ऽऽऽ | ला | जे | जी | ऽ |
| ग | ग ग | – | ग ग | म | म म | म | म |
| ए | कवा | ऽ | रचि | त्तौ | ड़ च | ली | जा |
| नी नी | – | नी नी | सांनी | ध | ध | प | सानी |
| अ ठे | | बुरी | मत | बा | जे | जी | सुण |
| × | | | | २ | | | |

इसमें दूदाजी मीराँ को शादी करने के लिये समझा-बुझा रहे हैं और उसके नहीं मानने पर उससे कह रहे हैं कि – 'तुम्हें किसने भ्रमित किया है ?' इस पर मीराँ कहती है कि – 'मेरे सतगुरु ने ही मुझे अमृत की घूंट पिलाई है। मैं किसी से भ्रमित नहीं हुई हूँ।'

यह सुनकर दूदाजी गुस्से में हो जाते हैं। मीराँ को डाँटते हुए वे कहते हैं कि – 'तुमने व्यर्थ ही यह जिद्द पकड़ रखी है। राणा उधर दूल्हा बने बैठे हैं, इधर मेड़ता का ठिकाना लज्जित हुआ जारहा है। एक बार तूँ चित्तौड़ चली जा। यहाँ बुरी मत बन।' यही नहीं, दासियाँ भी मीराँ से विवाह का वेश धारण करने की अनुनय-विनय कर रही हैं। मीराँ उन्हें भी रूखा-सूखा उत्तर देकर निरुत्तर कर देती है –

दासी – बाई मीराँ करो सिणगार घर आयो सिसोद्यो राव ।।
मीराँ – वर साँवरियो जाणूं कांई लागे सिसोद्यो राव ?
दासी – न्हावो धोवो अतर लगावो माथे मींडी वेग करावो
वेश बदन पर धारो।
अँखियाँ द्रग के अंजन सारो बिंदली रतन जड़ावो
घर आयो सिसोद्यो राव ।।

मीराँ – (स्वागत)

राणाजी म्हारे मन नहीं भायो यो काहे को मेड़ते आयो ?

मायड़ थें बुरी विचारी वाई हिवड़े गुपत कटारी

बाबुल रच्यो ठिकाणो ।। घर आयो० ।।

## ताल कहरवा, मात्रा ८

### स्थायी

| | | | | | | | | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | | | | | | | | | | सा | – | सा | – |
| | | | | | | | | | | | | वा | ऽ | ई | ऽ |
| – | – | रे | – | म | – | म | – | प | – | – | – | नी | – | नी | – |
| ऽ | ऽ | मी | ऽ | राँ | ऽ | क | ऽ | रो | ऽ | ऽ | ऽ | सि | ऽ | ण | ऽ |
| (सां) | – | – | – | नी | – | ध | – | प | – | रे | – | म | – | प | – |
| गा | ऽ | ऽ | र | घ | ऽ | र | ऽ | ऽ | ऽ | आ | ऽ | यो | ऽ | सि | ऽ |
| ध | प | ध | – | म | – | ग | म | ग | रे | – | – | – | – | रे | – |
| सो | ऽ | ऽ | ऽ | ह्यो | ऽ | ऽ | ऽ | रा | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | व | ऽ |
| ग | रे | ग | – | सा | – | सा | – | – | – | रे | – | म | – | म | – |
| हाँ | ऽ | ऽ | ऽ | व | ऽ | र | ऽ | ऽ | ऽ | साँ | ऽ | व | ऽ | रि | ऽ |
| प | – | – | – | नी | – | – | – | (सां) | – | – | – | नी | ध | ध | – |
| यो | ऽ | ऽ | ऽ | जा | ऽ | ऽ | ऽ | णू | ऽ | ऽ | ऽ | कां | ऽ | ई | ऽ |
| प | – | रे | – | म | – | प | – | ध | प | ध | – | म | – | ग | म |
| ऽ | ऽ | ला | ऽ | गे | ऽ | सि | ऽ | सो | ऽ | ऽ | ऽ | ह्यो | ऽ | ऽ | ऽ |
| ग | रे | – | – | – | – | रे | – | ग | रे | ग | – | सा | – | सा | – |
| रा | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | व | ऽ | हाँ | ऽ | ऽ | ऽ | वा | ऽ | ई | ऽ |
| × | | | | २ | | | | × | | | | २ | | | |

## अंतरा

| | | | | | | | | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| — | — | रे | — | — | — | रे | — | रे | ग | — | रे | रे | ग | (प)म | — |
| ऽ | ऽ | न्हा | ऽ | ऽ | ऽ | वो | ऽ | धो | ऽ | ऽ | ऽ | वो | ऽ | ऽ | ऽ |
| ग | म | रे | ग | ग | — | रे | — | नी़ | — | — | — | सा | — | — | — |
| ऽ | ऽ | अ | त | र | ऽ | ल | ऽ | गा | ऽ | ऽ | ऽ | वो | ऽ | ऽ | ऽ |
| — | — | रे | — | — | — | रे | — | म | — | — | — | प | — | — | — |
| ऽ | ऽ | मा | ऽ | ऽ | ऽ | थो | ऽ | मीं | ऽ | ऽ | ऽ | डी | ऽ | ऽ | ऽ |
| — | — | रे | म | — | प | — | सां/नी | ध | — | — | — | प | — | — | — |
| ऽ | ऽ | वे | ऽ | ऽ | ग | ऽ | क | रा | ऽ | ऽ | ऽ | वो | ऽ | ऽ | ऽ |
| — | — | म | — | प | — | प | — | नी | — | नी | — | सां | — | रे | — |
| ऽ | ऽ | वे | ऽ | स | ऽ | व | ऽ | द | ऽ | न | ऽ | प | ऽ | र | ऽ |
| नी | — | — | — | सां | — | — | — | नी | — | ध | — | प | — | — | — |
| धा | ऽ | ऽ | ऽ | रो | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ |
| — | — | रें | रें | रें | — | — | — | रें | — | गं | — | रेंगं | पंमं | गं | मं |
| ऽ | ऽ | अँ | खि | याँ | ऽ | ऽ | ऽ | द्र | ऽ | ग | ऽ | केऽ | ऽऽ | ऽ | ऽ |
| गं | रें | सां | — | सां | — | रें | — | नी | — | — | — | सां | — | — | — |
| ऽ | ऽ | अँ | ऽ | ज | ऽ | न | ऽ | सा | ऽ | ऽ | ऽ | रो | ऽ | ऽ | ऽ |
| — | — | प | नी | नी | — | — | — | नी | — | नी | — | सां | — | (रें)सां | — |
| ऽ | ऽ | वि | द | ली | ऽ | ऽ | ऽ | र | ऽ | त | ऽ | न | ऽ | ज | ऽ |
| × | | | | २ | | | | × | | | | २ | | | |

| नी | – | ध | – | प | – | प | – | रे | – | रे | – | म | – | प | – |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ड़ा | ऽ | वो | ऽ | घ | ऽ | र | ऽ | ऽ | ऽ | आ | ऽ | यो | ऽ | सि | ऽ |
| ध | प | ध | – | म | – | ग | म | ग | रे | – | – | – | – | रे | – |
| सो | ऽ | ऽ | ऽ | द्यो | ऽ | ऽ | ऽ | रा | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | व | ऽ |
| ग | रे | ग | – | सा | – | सा | – | | | | | | | | |
| हाँ | ऽ | ऽ | ऽ | बा | ऽ | ई | ऽ | | | | | | | | |
| × | | | | २ | | | | × | | | | २ | | | |

वृन्दावन में मीराँ को स्वप्न में जो रास दिखाया जाता है वह भी ब्रज में प्रचलित वही रास है जिसका प्रचलन आज भी वहाँ देखा जाता है। इस नाटिका के समस्त गीतों की धुनें भी विशुद्ध लोकधुनें हैं। एक धुन को दूसरी धुन में मिलाने के लिए स्वर-रचयिताओं ने जिन विशिष्ट धुनों की रचना की है उनमें भी सामरजी की ही प्रतिभा का चमत्कार परिलक्षित होता है। इस कृति के अबतक लगभग एक हजार प्रदर्शन दिये जाचुके हैं और आज भी यह उतनी ही ताजा एवं लोकप्रिय है जितनी सन् १९५९ में अपने रचना-काल में थी।

## ३. मूमल

जैसलमेर की मूमल अपनी सुन्दरता में अद्वितीय थी। उसकी यह शर्त थी कि जो भी राजकुमार उसकी उलझी हुई रेशम को सुलझाएगा और उसके प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर देगा वही उसको प्राप्त कर सकेगा। देश-देशान्तरों से अनेक राजकुमार उससे विवाह करने को आये परन्तु वे न रेशम सुलझा सके, न उसके प्रश्नों के संतोषजनक उत्तर ही दे सके। कुछ राजकुमार तो उसके द्वार पर खड़े शेर को देखते ही भागते नजर आये। अमरकोट का राजकुमार महेन्द्र भी जैसलमेर आया। मूमल अपने झरोखों से देखते ही उस पर मुग्ध होगई। महलों में आकर महेन्द्र ने मूमल का उलझा हुआ रेशम भी सुलझा दिया और उसके प्रश्नों के संतोषजनक उत्तर भी दे दिये।

महेन्द्र प्रतिरात्रि अमरकोट से चलकर जैसलमेर आता और पुनः प्रातः होते-होते ही अमरकोट पहुँच जाता। एक दिन किसी प्रतिद्वंद्वी ने मार्ग में उसे चोट

पहुँचाई, इससे महेन्द्र पागल होगया और लगभग चार दिन तक मूमल से मिलने जैसलमेर नहीं जासका। इससे मूमल को बड़ी व्यथा और तड़पन हुई। उसकी सहेलियों ने उसे बहुत धीरज बंधाया परन्तु उसकी व्यथा बढ़ती ही गई। इससे उसकी छोटी वहिन सूमल भी बड़ी चिंतित हुई। एक दिन उसने महेन्द्र का वेश वनाया और मूमल के महल में जा पहुँची। दोनों काफी रात तक महल में रहे और जव रात अधिक वीत गई तो वह मूमल के बिस्तर पर ही सोगई। इधर स्वस्थ हो जाने के वाद पहले की भांति अर्द्धरात्रि को महेन्द्र मूमल से मिलने उसके महल में पहुँचा परन्तु उसकी शैया पर किसी परपुरुष को सोता देखकर वह पुनः अमरकोट लौट गया और उसके वाद कभी भी मूमल के पास नहीं आया।

यह नृत्यनाटिका मुख्यतः चिड़ावी ख्याल पर आधारित है। 'म्हाने चाकर राखोजी' में जहाँ लोकधर्मी रंगतों के साथ-साथ आधुनिक नृत्य-नाट्यशैली का सम्मिश्रण मिलता है वहाँ मूमल में विशुद्ध लोकधर्मी स्वरूप का निर्वाह पाया जाता है। 'म्हाने चाकर राखोजी' अपने मूलरूप में प्रदर्शित होती थी तब उसमें नाना प्रकार की दृश्यावलियों एवं रंगमंचीय उपकरणों का उपयोग होता था। सामरजी की दृष्टि जैसे-जैसे पैनी होती गई एवं लोकरंग में गहरी रंगती गई वैसे-वैसे इन वाह्य उपकरणों का प्रयोग भी कम होता गया।

इसमें मूमल की मेड़ी, महेन्द्र का निवासगृह, जैसलमेर की अट्टालिकाएँ प्रतीकों के रूप में प्रकट होकर अत्यंत आकर्षक वन गई हैं। 'मूमल' के प्रायः सभी प्रसंग राजस्थान की चिड़ावी, कुचामणी एवं रम्मत शैली में प्रस्तुत हुए हैं। गीतों की धुनों में भी इन्हीं रंगतों का प्रयोग मिलता है।

मूमल की सहेलियाँ अपने साथ नाना प्रकार के शृंगार-प्रसाधन लिए मूमल का शृंगार करती हैं और मूमल को अपने वीच विठाकर नृत्य के साथ मूमल के अंग-सौन्दर्य का जो गीत गाती हैं वह राजस्थान का अत्यंत लोकप्रिय गीत है। इसके साथ जो नृत्य गूँथा गया है वह चिड़ावी ख्याल शैली में प्रयुक्त नृत्य की मनोहर झाँकी प्रस्तुत करता है। यथा —

काळी काळी काजलिया री रेख सा
काळा रे वादल में चमके विजळी
ढोला री मूमल हाले तो ले चालूं मुरधर देस।
सीस मूमल रो वागड़ियो नारेळ सा
चोटी तो मूमल री वासग नागणी ॥ ढोला री० ॥
नाक मूमल रो सुवा केरी चाँच रा
आँख तो मूमल री प्याला मद भर्‍या ॥ ढोला री० ॥

दाँत तो मूमल रा दाड़म केरा बीज रा
होठ तो मूमल रा हिंगलू ढोलिया ॥ ढोला री० ॥
कण्ठ तो मूमल रो कोयल केरो साँस रा
हिवड़ो तो मूमल रो सँचे ढाळियो ॥ ढोला री० ॥
हाथ तो मूमल रा चम्पा केरी डाल रा
आँगळियाँ मूमल री फळियाँ मूँग री ॥ ढोला री० ॥
पेट तो मूमल रो पीपल केरो पान रा
जांघ तो मूमल री देवळ थम्ब रा ॥ ढोला री० ॥

## ताल दादरा, मात्रा ६

### स्थायी

| ग | ग | (म) ग | रे | सा | – | रे | म | म | प | ध | – |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| का | ळी | ऽ | का | ळी | ऽ | का | ज | लि | या | री | ऽ |
| पम | – | ध | प | – | – | सां | सां | – | नी | ध | – |
| रेऽ | ऽ | ख | सा | ऽ | ऽ | का | ळा | ऽ | ने | बा | ऽ |
| पध | म | – | पध | ध | – | पम | धप | म | गरे | सारे | सा |
| दल | में | ऽ | चम | के | ऽ | विऽ | ऽऽ | ज | ळीऽ | ऽऽ | ढा |
| रे | म | – | प | ध | ध | म | प | – | धप | ध | म |
| ला | री | ऽ | मू | म | ल | हा | ले | ऽ | तोऽ | ऽ | ले |
| ग | रे | सा | सारे | गरे | गसा | सा | – | – | – | – | सा |
| चा | लूँ | ऽ | मुर | धऽ | र | दे | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | स |
| × | | | ० | | | × | | | ० | | |

मूमल महेन्द्र जब पहली बार आपस में मिलते हैं तो उनके बीच जो परिचयात्मक संवाद होता है वह विशुद्ध चिड़ावी शैली में है। यथा–

मूमल – कूण गढ़ां रा राजवी कांई छै थारो नाम
कूण देस कांई जात छो किण वसत हो गाम जी ?

महेन्द्र – आया आया नखराळी थारे गाम जी।
अमरकोट रो कुँवर छूं सोढ़ा म्हारी खाँप
रूप देख खुशी उतपन हुई महेन्द्र कुँवर म्हारो नाम
जी आया आया नखराळी थारे गाम जी।

मूमल – रेसम म्हारा सुलझिया पर मन में गाँठ पड़ी
सुलझावो म्हारा जीवड़ा जद जाणूं थांरी प्रीतड़ी
आया आया नखराळी थारे गाम जी ॥

## ताल कहरवा, मात्रा ८

### स्थायी

| नी – नी नी | नी – नी – | सांनी धनी सां नी | सां – – – |
|---|---|---|---|
| कू ऽ ण ग | ढां ऽ रा ऽ | राऽ ऽऽ ऽ ज | वी ऽ ऽ ऽ |
| सां नी रें सां | नी प म ग | ग ग ग म | ध प ध म |
| ऽ ऽ ऽ ऽ | ऽ ऽ ऽ ऽ | कां ई छै ऽ | था ऽ ऽ रो |
| ग – – – | – – – ग | सा – सा ग | – ग ग म |
| ना ऽ ऽ ऽ | ऽ ऽ ऽ म | कू ऽ ण दे | ऽ स कां ई |
| प – – ध | पध नीसां – – | – सां नी सं | नी प म – |
| जा ऽ ऽ त | छोऽ ऽऽ ऽ ऽ | ऽ कि ण व | स त हो ऽ |
| × | २ | × | २ |

| | | | |
|---|---|---|---|
| – ग – म | प – प ध | नी सां नी सां | नी प म म |
| ऽ गा ऽ म | जी ऽ आ या | आ या न ख | रा ली था रे |
| – ग – म | प – प ध | | |
| ऽ गा ऽ म | जी ऽ आ या | | |
| × | २ | × | २ |

वाद्यों में नक्काड़ा भी चिड़ावी ख्याल की शैली में ही बजाया जाता है। महेन्द्र का प्रतिद्वन्द्वी दुर्गुणसिंह जब महेन्द्र की हत्या के लिए उसका पीछा करता है और ललकारता है तब महेन्द्र उसे मुँहतोड़ उत्तर देता है। यथा –

**दुर्गुणसिंह –** मेरे दुश्मन भारी जायेगा बचकर कैसे वार से ।। मेरे० ।।
भटक रहा मूमल के पीछे तू कपटी बदनाम
हाँ तू कपटी बदनाम

**महेन्द्र –** दूर-दूर हो पापी कपटी मुझसे है क्या काम
हाँ मुझसे है क्या काम
आया यदि तू मेरे पथ पर पौंचेगा उस धाम ।। मेरे० ।।

ताल कहरवा, मात्रा ८

**स्थायी**

| | | | |
|---|---|---|---|
| | | | प प |
| | | | मे रे |
| प ध प म | ग – रे सा | – – ग – | ग – ग रे |
| दु स म न | भा ऽ री ऽ | ऽ ऽ जा ऽ | ये ऽ गा ऽ |
| रे म म म | ग – ग – | रे ग रे सा | सा – प प |
| ब च क र | कै ऽ से ऽ | वा ऽ ऽ र | से ऽ मे रे |
| × | २ | × | २ |

| ध | ध | ध | ध | ध | – | ध | प | प | प | नी ध | – | प | – | म | – |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| भ | ट | क | र | हा | ऽ | मू | ऽ | म | ल | के | ऽ | पी | ऽ | छे | ऽ |
| ग | म | म | म | ग | – | रे | रे | सा | – | – | – | – | – | – | सा |
| तू | ऽ | क | प | टी | ऽ | व | द | ना | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | म |
| ध | – | ध | ध | – | ध | ध | प | प | – | नि ध | – | प | प | म | – |
| दू | ऽ | र | दू | ऽ | र | हो | ऽ | पा | ऽ | पी | ऽ | क | प | टी | ऽ |
| ग | म | म | – | ग | – | रे | – | सा | – | – | – | – | – | – | सा |
| मु | झ | से | ऽ | है | ऽ | क्या | ऽ | का | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | ऽ | म |
| ग | – | ग | – | ग | ग | ग | रे | ग | म | म | – | म | म | म | ग |
| आ | ऽ | या | ऽ | य | दि | तू | ऽ | मे | ऽ | रे | ऽ | प | थ | प | र |
| – | प | – | प | प | – | ध | प | म | – | – | ग | रे | सा | प | प |
| ऽ | पी | ऽ | चे | गा | ऽ | उ | स | था | ऽ | ऽ | म | रे | ऽ | मे | रे |
| × | | | | २ | | | | × | | | | २ | | | |

## ४. इन्द्रपूजा

इन्द्रपूजा की कहानी इस प्रकार है—

इसमें सर्वप्रथम कानगवाले आते हैं। ये राजस्थान के परम्परागत कहानी सुनानेवाले हैं जो अपनी धरती के प्राचीन सौन्दर्य और गौरव का वर्णन करते हैं –

हम गथाकार हैं कथा सुनाएँ गाकर मीठे गान।
हमारा प्यारा राजस्थान हमारा प्यारा राजस्थान ॥

और वसन्त के आगमन के साथ ही राजस्थान के स्त्री-पुरुष बड़ी धूमधाम के साथ होली का त्योहार मनाते हैं।

कानगवाले कहते हैं – 'यह तो बीते दिनों की दास्तान है। उस समय विचारशून्य लोगों ने जंगलों को काट डाला जिससे राजस्थान मरुप्रदेश बन गया।' इतने में उनका परिचय नवला और लक्ष्मण नामक दो भाइयों से होता है। नवला जो अब भी अतीत में जीवित है, वर्षा के देवता इन्द्र की पूजा करना चाहता है। इस पूजन के लिए ग्यारह विभिन्न प्रकार की लकड़ियाँ और अनाज, ग्यारह तरह के पशु तथा विभिन्न गाँव के ग्यारह व्यक्ति जुटाए जाते हैं। अकाल-पीड़ित मरुप्रदेश में कुछ भी उपलब्ध नहीं। नवला विचारों का पक्का है। वह अपनी योजना के अनुसार चलना चाहता है। उसके छोटे भाई लक्ष्मण ने उसे चेतावनी दी – 'देवताओं को प्रसन्न करने का यह ढंग नहीं। हमें अपने सामूहिक प्रयास से खेती करके अपने जीवन का पुनर्निर्माण करना चाहिए तभी देवता भी प्रसन्न होंगे।'

पुराने विचारों के अन्धविश्वासी और भ्रम के शिकार कट्टरपंथी लोग इन बातों पर कहाँ ध्यान देते हैं? गाँव के नवयुवक इस चेतावनी को स्वीकार करते हैं और अकाल, निर्धनता, अज्ञान और रोग के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए लक्ष्मण के नेतृत्व में बढ़ चलते हैं।

पीढ़ियों से लोग पीपल की पूजा करते आरहे हैं मगर राजस्थान की मरुभूमि में गाँव की युवतियों को कोई हराभरा वृक्ष पूजा के लिए दिखाई नहीं देता। वे उदास हैं।

निराशा आशा में बदल जाती है। लक्ष्मण और उसके मित्रों ने निष्ठा और लगन से काम प्रारम्भ कर दिया है। इतने में कानगवाले आते हैं और एक छोटी सी नदी पर लक्ष्मण की बाँध बनाने की योजना के बारे में बताते हैं। लक्ष्मण अपने मित्रों को समझाता है – बाँध बनने पर खेतों और पशुओं के लिए काफी जल होगा। वह नवला से भी अपनी योजना की बात कहता है और ग्राम-विकास-केन्द्र की व्यवस्था करता है।

गाँववालों के सामूहिक प्रयत्न से बाँध बन गया है और खेती की सिंचाई के लिए बहुत सा जल उपलब्ध होगया है। गाँव में एक स्कूल और एक अस्पताल भी है। लोग खुशहाल हैं। आसपास के ग्यारह गाँवों के लोग आते हैं और लक्ष्मण के गाँव की खुशहाली की सराहना करते हुए उसकी तरह ही अपने गाँव की उन्नति करने का निश्चय करते हैं।

इस प्रकार सामूहिक प्रयास से इस इलाके का चित्र ही बदल जाता है। लोग खुशहाल हैं। इस खुशहाली में वर्षा का राजा इन्द्र भी प्रसन्न है और राजस्थान में वर्षा करता है।

नवला को यह सब अच्छा नहीं लगता। वह पुराने विचारों का कट्टर-पंथी है। उसके पुत्र ने भी लक्ष्मण का साथ दिया है। इससे वह और दुःखी होजाता है, गिर पड़ता है और जख्मी होजाता है। लक्ष्मण उसकी सहायता के लिए आता है और उसे समझाता है कि वह भी इस जागरण को स्वीकार करे। अन्त में नवला को अपने छोटे भाई का साथ देने में ही शान्ति प्राप्त होती है।

देवता राजस्थान के इस छोटे से गाँव पर प्रसन्न हैं। लोग खुश हैं और इन्द्रपूजा का आयोजन करते हैं।

सन् १९५६ में केन्द्रीय सूचना मंत्रालय के संगीत-नाटक संभाग ने देश के आठ शीर्षस्थ कलाकारों को राष्ट्रीय विकास संबंधी विषय पर आधारित नृत्य-नाटिकाओं की रचना-विषयक योजना लेकर दिल्ली आमंत्रित किया था। इनमें सामरजी को भी यह आमंत्रण प्राप्त हुआ। निर्णय समिति के अध्यक्ष, आकाशवाणी के भूतपूर्व महानिदेशक श्रीयुत् जगदीशचन्द्र माथुर थे। इसमें सामरजी के स्क्रिप्ट को सर्वश्रेष्ठ मानकर उन्हें तदनुसार नाटिका तैयार करने का आदेश दिया गया। यही कृति 'इन्द्रपूजा' थी। इसमें वर्षा के आह्वान के लिए इन्द्र की पूजा का एक छोटा सा हेतु लेकर देश के सर्वतोमुखी विकास के निमित्त अनेक नृत्य-गीत-घटकों के रूप में एक वृहद् नाटिका की रचना की गई। इसकी तैयारी के लिए पच्चीस हजार रुपए स्वीकृत किए गये और यह भी शर्त रखी गई कि यदि यह नाटिका अधिक लोकप्रिय हुई तो सरकार इसके अठारह प्रदर्शन अपने पूर्व-निश्चित घटकों द्वारा विविध केन्द्रों पर निःशुल्क देगी। इसके लिए सरकार ने अठारह हजार रुपए का एक अतिरिक्त अनुदान भी स्वीकृत किया। इस काम की पूर्ति के लिए सामरजी ने डेढ़ महीने का समय लिया और बड़े परिश्रम के बाद इसे पूर्ण किया।

सर्वप्रथम ८ अक्टूबर १९५६ को दिल्ली के अन्तर्राष्ट्रीय युनेस्को सम्मेलन में इसका प्रदर्शन रखा गया। इसमें प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू, केन्द्रीय मंत्रिगण एवं देश-विदेश के प्रतिनिधि भी विद्यमान थे। इस समय 'इन्द्र-पूजा' के दल में चालीस कलाकार एवं संगीतज्ञ थे। साज-सज्जाओं एवं दृश्यावलियों से यह कृति देदीप्यमान थी। ढाई घंटे के प्रदर्शन में दर्शक मंत्रमुग्ध होगये। कृति की समाप्ति के बाद पं० नेहरू रंगमंच पर आये और सामरजी को बधाई देते हुए कहा—'इस नृत्यनाटिका द्वारा आपने बहुत ही सुन्दर ढंग से देश की विशिष्ट समस्याओं का निराकरण प्रस्तुत किया है, परन्तु यह कृति
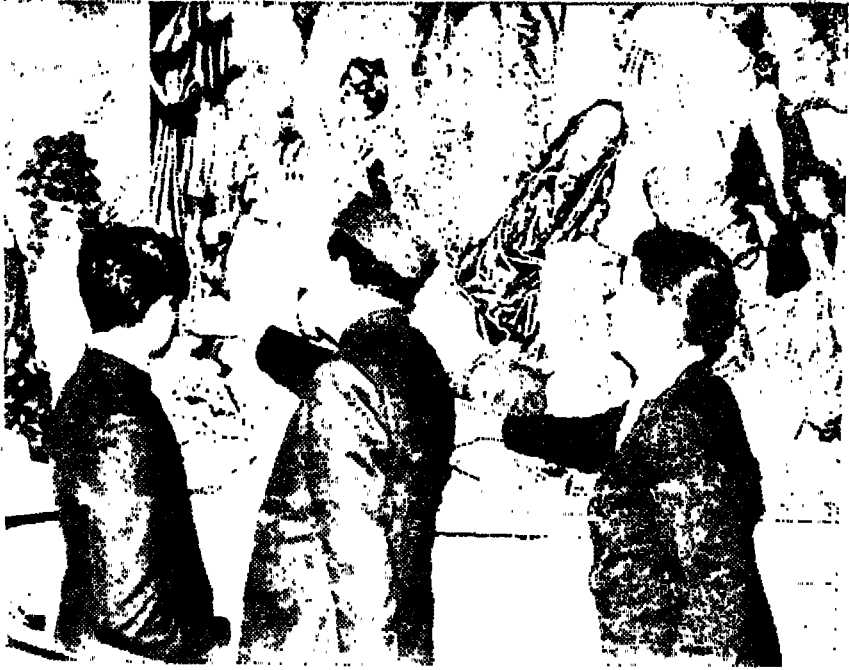
सामरजी : विश्वविख्यात् कठपुतली विशेषज्ञा श्रीमती मेरिया सिग्नरोली के साथ उनके रोम स्थित कठपुतली कक्ष में [१९६५]

प्रदर्शनोपरान्त सामरजी को धन्यवाद देते हुए हिमाचल प्रदेश के उपराज्यपाल और कश्मीर के मुख्यमंत्री श्री सादिक [१९६८]

सामरजी और उनके कठपुतली कलाकारों को प्रदर्शनोपरान्त धन्यवाद देते हुए राजस्थान के राज्यपाल सरदार हुकमसिंह [१९६८]
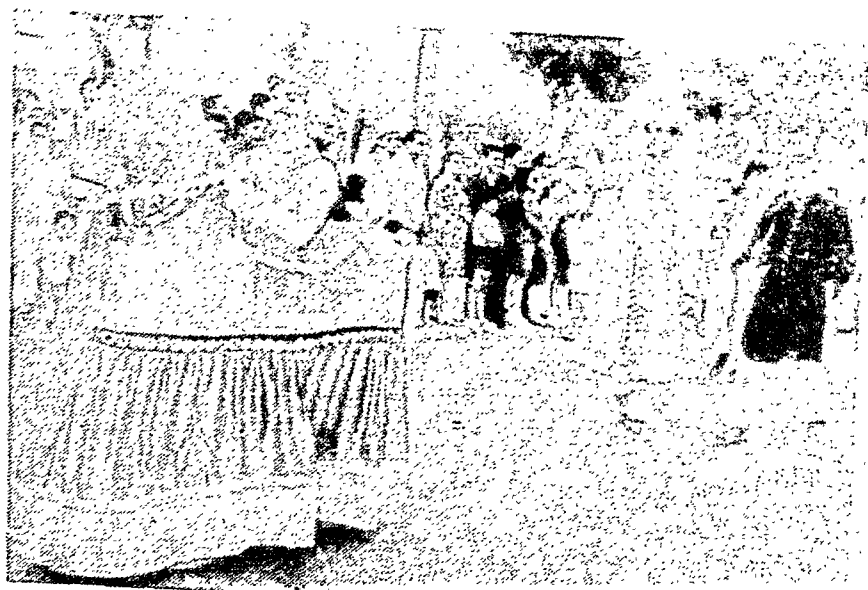
ट्यूनिशिया के पंचम् अन्तर्राष्ट्रीय लोकनृत्य समारोह में राजकीय जुलूस का नेतृत्व करते हुए सामरजी अपने दल-नेता के रूप में [१९६९]

कहीं शहर तक ही सीमित न रह जाय। इसमें रेगिस्तान में हरित क्रान्ति लाने, अधिक अन्न उपजाने तथा जंगलों की सुरक्षा हेतु जो भी दृश्य प्रस्तुत किए गये हैं वे गाँवों के हैं। अतः आपको भारत के प्रत्येक गाँव में इसके प्रदर्शन देने चाहिये, परन्तु वहाँ रंगमंच की इतनी भव्यता, आँखों को चौंधियानेवाली ऐसी सुरम्य बिजलियाँ तथा दृश्य-परिवर्तन के ऐसे चमत्कारिक तरीके कहाँ से आवेंगे ? हमारे देश में अभी भी ऐसे गाँव हैं जिनमें बिजली नहीं पहुँची है। आपके कलाकारों की भव्य पोशाकें, हीरे-पन्ने जैसे चमकीले जेवर तथा स्पोट एवं फ्लड लाइट की रंगीन किरणें ही गाँववाले देखते रह जाएँगे और आपकी कृति को भूल जाएँगे, ऐसी स्थिति में इस कृति को आप अत्यन्त सरल तरीके से साधारण पोशाकों तथा गैस-बत्ती एवं मशालों की रोशनी में प्रस्तुत करें तो अत्यन्त लोकोपकारी एवं शिक्षाप्रद होगी।'

पं० नेहरू के ये शब्द सामरजी के हृदय-पटल पर सदा के लिए अंकित होगये। उसके बाद उन्होंने अपनी समस्त शक्तियाँ 'इन्द्रपूजा' के सरलीकरण में लगादीं और कुछ ही महीनों में वे इस कार्य में सफल हुए। 'इन्द्रपूजा' के प्रारम्भिक संस्करण में जहाँ ४५ कलाकार थे वहाँ इसमें केवल २० ही कलाकारों से काम चल गया। कलाकारों की शहरी चटकीली-भड़कीली पोशाकें ग्रामीण पोशाकों में परिवर्तित हुईं। नाना प्रकार के तकनीकी परदे, मच्छरदानी द्वारा स्वप्निल प्रभाव उत्पन्न करनेवाले दृश्य, पन्द्रह किलोवाट की रंगमंचीय रोशनियाँ तथा अन्य रंगमंचीय उपकरण भी इस से निकाल दिये गये और इनके स्थान पर गाँव का कोई कैसा ही चबूतरा, उस पर विंग्ज के लिए खड़ी हुई चारपाइयाँ तथा गैस-बत्ती व मशालें विशिष्ट उपकरण बन गए।

मध्यप्रदेश, राजस्थान तथा अन्य कई प्रदेशों के सैकड़ों गाँव 'इन्द्रपूजा' से चमत्कृत होगये। इस कृति की शोहरत इतनी फैली कि दूर-दूर से दर्शक बैल-गाड़ियों, ट्रकों तथा बसों में बैठकर इसे देखने को उमड़ पड़े। 'इन्द्रपूजा' की यह कृति जितनी सरल थी उतनी ही अधिक प्रभावकारी भी।

इस कृति में किसी भी विशिष्ट लोकनाट्य-तंत्र का सहारा नहीं लिया गया। इसमें सामरजी ने अपने सहयोगी कलाकारों की प्रतिभा का पूर्ण लाभ उठाया। इन कलाकारों में गुजरात के रणजीत शिकारी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। बिखरे हुए विविध प्रसंगों का सूत्रबद्ध प्रस्तुतीकरण, गीत एवं नृत्यों का स्वस्थ सामञ्जस्य तथा उच्चकोटि का मनोरंजन, ये इस नाटिका के तीन ऐसे पहलू हैं जिन्हें कोई भी दर्शक एवं विवेचक भूल नहीं सकता।

## ५. पणिहारी

पणिहारी राजस्थान का रेगिस्तानी इलाके का सुप्रसिद्ध गीत है। इसीके आधार पर यह नाटिका रची गई है। इसकी संक्षिप्त कथा इस प्रकार है–

जैसलमेर में एक स्त्री रहती थी जिसके विवाह के तुरन्त बाद ही उसका पति परदेश चला गया और बारह बरस तक लौटकर नहीं आया। एक दिन वह स्त्री पनघट पर पानी भरने के लिये गई। सब सखियां तो पानी भरकर चली गई मगर वह अकेली वहीं रह गई। उधर से एक नौजवान निकला जिसने पणिहारी को अकेली देखकर छेड़ा। पणिहारी ने उसे झिड़ककर भगा दिया। इधर उसे घर लौटने में देरी हुई जानकर उसकी सास पनघट पर आई और उससे देरी का कारण पूछने लगी। बहू ने देरी का कारण बताते हुए उस नौजवान का किस्सा कह सुनाया। इस पर सास ने पूछा – 'उस नौजवान की शक्ल कैसी थी जिसने तुझे छेड़ा ?' पणिहारी ने उत्तर दिया – 'उसकी शक्ल मेरे देवर और मेरी ननद से मिलती-जुलती थी।' तब सास ने कहा – 'अरे मूर्ख स्त्री ! वही तो तेरा पति है, जा उसे गांव में बुला ला।' वह जाती है। उसके पीछे-पीछे गाँव के सभी स्त्री-पुरुष भी जाते हैं और दोनों पति-पत्नी को लिवा लाते हैं और नाच-गान द्वारा उनका स्वागत करते हैं।

यह कृति सामरजी की लघुकृतियों में सर्वाधिक लोकप्रिय है। इसके प्रदर्शन में केवल बीस मिनिट का समय लगता है। इस नाटिका में एक दूसरे को भूले हुए दम्पति के जीवन की मार्मिक घटना अत्यन्त ही आकर्षक रूप में प्रस्तुत कीगई है। पनघट पर पणिहारी के भूले हुए पति की छेड़छाड़, सास का उलाहना, दो अल्हड़ प्रेमियों का मिलन, संकेत-स्थल पर पत्नी का प्रथम बार घूंघट-विसर्जन, ग्राम्य नर-नारियों का दो बिछुड़े हुए पंछियों के मिलन पर नृत्य-गान आदि के माध्यम से ग्राम्य जीवन के विशुद्ध अल्हड़-शृंगार को इस कृति में अत्यन्त लोकरीति से प्रस्तुत किया गया है। गाँव का सर्वपूज्य काका सबकी श्रद्धामय मजाक का पात्र बनकर दर्शकों में गुदगुदी पैदा करता है। ग्रामीण जीवन की एक दूसरे के दुःख में दुःखी और सुख में सुखी होने की परम्परा को इस कृति के माध्यम से बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इसके गीत-नृत्य भी विशुद्ध लोकशैलीपरक हैं। चलते नृत्य में गीति-संवादों को उलथाने की प्रक्रिया भी स्वतः नाटिका का भाग बन गई है, जो इसमें चार चाँद लगा देती है।

## ६. रासधारी

राम लक्ष्मण और सीता पंचवटी में आकर निवास करते हैं। सीता

अपनी कुटिया के पास एक सुन्दर सा बगीचा लगाती है। इसमें लगे फलों को रावण का भेजा हुआ मायामृग खाजाता है। सीता उस मायामृग पर मुग्ध होजाती है और राम से उसका शिकार कर अपनी कंचुकी के लिए खाल लाने को कहती है। राम नहीं चाहते हुए भी सीता के कहने पर मृग के शिकार पर जाते हैं। मरते समय वह 'हा लक्ष्मण' का उच्चारण करता है। सीता यह करुण स्वर राम का समझकर अपने देवर लक्ष्मण को उनकी रक्षा करने के लिए भेजती है। भाभी की आज्ञा को शिरोधार्य कर लक्ष्मण सीता के इर्दगिर्द कार (रेखा) खींचकर चले जाते हैं। थोड़ी ही देर बाद साधुवेश में रावण प्रवेश करता है और सीता से भिक्षा माँगता है। सीता रावण के भुलावे में आकर लक्ष्मण की खींची हुई कार से बाहर रावण को भीख देने निकलती है। इतने में रावण उसका हरण कर लेजाता है।

राजस्थान की पारम्परिक लोकनाट्य-परम्परा के रूप में इस कृति की रचना आज से बीस वर्ष पूर्व हुई थी। इस नाट्य-परम्परा की विशेषता यह है कि यह आज तक भी अलिखित है और उन नाट्य-प्रयोगों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है जो गाँवों में विना रंगमंचीय योजना के अपने प्रकृत-स्थलों पर अभिनीत होते हैं। प्रारम्भ में कोई विशिष्ट व्यावसायिक दल रासधारी का ठेकेदार न होकर समस्त समाज ही उसका प्रयोक्ता होता था। इसमें राम तथा अन्य पात्रों को पारम्परिक पात्र न मानकर उन्हें आधुनिक मानवीय पात्रों का प्रतीक वनाकर प्रस्तुत किया है। रासधारी की प्राय: सभी धुनें असंवद्ध ढंग से स्वतंत्र गीतों के रूप में प्रकट हुई हैं। अभिनय, अंग-भंगिमा, नृत्य एवं गायकी की दृष्टि से भी इस नाट्य-परम्परा की अपनी विशेषता है। इस नाटिका में भी सामरजी ने रासधारी के पारम्परिक अभिनेताओं को अपने साथ रखकर उसकी मौलिकता और अधिकृतता की पूरी तरह रक्षा करते हुए उसमें आंशिक परिवर्तन किया है।

उपर्युक्त सभी नाटिकाओं में मुख्य पात्रों की भूमिका स्वयं सामरजी अदा करते हैं। उनकी यह अदायगी निश्चय ही इन कृतियों में चमत्कार पैदा कर देती है। 'म्हाने चाकर राखोजी' में विक्रम तथा दूदाजी, 'मूमल' में दुर्गुणसिंह, 'इन्द्रपूजा' में लक्ष्मण, 'ढोलामारू' में ढोला तथा 'रासधारी' में राम की असाधारण भूमिकाओं में सामरजी का उदात्त अभिनय देख दाँतों तले उँगली दवानी पड़ती है। 'मूमल' में खलनायक दुर्गुणसिंह का अभिनय देखनेवाले भली प्रकार जानते हैं कि एक पथभ्रष्ट, कापुरुष एवं कामलोलुप प्रेमी के रूप में सामरजी जिस संजीदे, सुधरे एवं सधे ढंग से उसकी अदायगी प्रस्तुत करते हैं वह

अच्छे-अच्छे अभिनेताओं के भी छक्के छुड़ा देती है। ढोला के आते ही 'ढोलामारू' की कल्पना साकार हो उठती है और दर्शक-समुदाय कुछ समय के लिए ढोला-मारू के उसी युग में जीते हुए उनके साथ अपना तादात्म्य स्थापित करते हैं। 'इन्द्रपूजा' और 'रासधारी' में जिन्होंने लक्ष्मण और राम के रूप में सामरजी को देखा है वे कभी भी उन्हें विस्मृत नहीं कर सकते।

रंगमंच सामरजी को उतना ही प्रिय है जितना प्रिय नाट्य-लेखन। अपनी नाटिकाओं में स्वयं अभिनय करके ही उनका कृतिकार रूप अपने कृतित्व को सफल हुआ मानता है। एक नाटककार के लिए इससे बड़ी क्या बात हो सकती है कि अपने लेखन को वह सप्राण, संजीदा और सार्थक करता हुआ दर्शकों के साथ प्रदर्शक और प्रदर्शकों के साथ दर्शक के रूप में स्वयं प्रकट होता है। वस्तुतः रंगमंच रचपच गया है उनके अंग-प्रत्यंग में। उन्होंने कहा भी है – 'रंगमंच से मुझे प्रारंभ से ही बड़ा लगाव रहा है। आज तो यह मेरे जीवन के साथ इतना घुलमिल गया है कि इसके बिना मैं रह ही नहीं सकता। और तो और, स्वप्न में भी मुझे रंगमंच ही दिखाई देता है। चाहता भी यही हूँ कि मरतेदम तक भी मैं अपने कलाकारों के साथ रंगमंच की ही सेवा करता रहूँ। मेरे लिए वह क्षण बड़ा ही सौभाग्यशाली होगा जब मैं रंगमंच पर ही अपने बहुरंगी जीवन के अन्तिम दृश्य को अभिमंचित करता हुआ परलोक का सुखद यात्री बनूंगा।'

इन नृत्यनाटिकाओं के अतिरिक्त सामरजी ने स्वतंत्ररूप से लोकाधारित अनेक नृत्यों की रचना भी की है। इन नृत्यों ने न केवल भारत में, अपितु विदेशों में भी बड़ी ख्याति अर्जित की है। इनमें भवाई जाति का मटकों पर आधारित भवाई तथा शंकर्या, आदिम जातियों का फागुन तथा वनवासी, शहरी तथा ग्रामीण महिलाओं में प्रचलित घूमर एवं घूमरा, श्रावणमास का पीपली तथा सावण, गुजरात का टिप्पणी, गरबा तथा रास; शेखावाटी का कच्छीघोड़ी, कामड़ जाति का तेराताली एवं होली पर प्रदर्शित डांडिया तथा कीर-कंजरों के नृत्य उल्लेखनीय हैं।

रंगमंच का यह रसिक रंगरेज कई रंगों में रंगा हुआ है और मजे की बात यह है कि इसमें किसी रंग ने अपना अस्तित्व नहीं छोड़ा है। हर रंग अपनी कान्ति, ओज और उल्लास के साथ खुशनुमा नजर आता है। ■

सामरजी

विचार
और
अनुभूति

# सामरजी : विचार और अनुभूति

[यहाँ सामरजी द्वारा लिखित वे विचार-विंदु दिये जा रहे हैं जो समय-समय पर देश के विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं।]

## १. लोकानुरंजन – एक सामाजिक सौहार्द :

हमारे विकास की इतिश्री केवल जीवित रहने, पेट भरने तथा कुटुम्व पालने में ही न समझ लीजाय इसलिए आनन्दपूर्वक जीने, किसी लक्ष्य को लेकर वढ़ने तथा जीवन-यात्रा को सुगम वनाने के लिए अनेक पर्व, त्यौहार, उत्सव, समारोह, संस्कार, मांगलिक अनुष्ठान आदि की कल्पना की गई है। इनमें मानवीय स्नेह-व्यवहार, भावनाओं का परिष्कार, पारस्परिक विचारों का आदान-प्रदान, मानवीय मनोवृत्तियों का विस्तार तथा हृदय की महानता के शुभ परिणाम निहित रहते हैं। ये प्रवृत्तियां मनुष्य के जीवन को नीरस तथा निरर्थक होने से वचाती हैं; उसमें रस पूरती हैं; अभाव में संतोष की भावना भरती हैं; मनुष्य को स्वार्थ से बाहर निकालकर परमार्थ की ओर ले जाती हैं तथा भौतिक आनन्द से आध्यात्मिक आनन्द की ओर उन्मुख करती हैं। यदि पर्व, त्यौहार, अनुष्ठान, संस्कार जीवन से विलग हो जायँ तो मनुष्य जीवन की रुखाई से बाहर निकले ही नहीं, अपनी दैनिक कठिनाइयों को भूले ही नहीं। वह जीवन-चक्र का ऐसा पुर्जा वन जाय कि घिस-घिसकर अपना अस्तित्व ही खो दे। इसलिए त्यौहारों पर नाच-गान, नाना प्रकार के सौन्दर्य-प्रसाधन, कलात्मक परिधान तथा जीवन में नानाविध प्रकट होनेवाली कलात्मक गतिविधियाँ प्रकट होती हैं। मनुष्य की सृजनात्मक प्रवृत्तियों को पोषण मिलता है। मनुष्य के वे नुकीले कोने जिनमें आवेश, क्रोध, क्रूरता, संकीर्णता, स्वार्थपरता तथा कुटिलता भरी रहती है, घिसते हैं, सहिष्णुता वढ़ती है, सामाजिकता पनपती है तथा मानवीय गुण विकास पाते हैं।

जिस समाज में आनन्द, मोद, प्रमोद तथा सृजनकारी प्रवृत्तियों का ह्रास होता है वहाँ क्लेश वढ़ता है; झगड़े-टंटे पोषण पाते हैं; कानूनी कचहरियों में भीड़ मचती है और जहाँ पर्व, त्यौहार, उत्सव, समारोह, नाटक, भजन, कीर्तन, लीलाएँ, स्वांग, मेले तथा यात्राएँ जुड़ती हैं वहाँ प्रेम, सौहार्द तथा सद्व्यवहार की गंगा वहती है।

## २. लोक-रंगमंच – एक सामाजिक दर्पण :

लोक-रंगमंच की कोई मर्यादा नहीं होती। वह किसी व्यक्ति, जाति, समाज तथा सम्प्रदाय-विशेष के लिए नहीं होता। उसका सार्वजनिक पक्ष प्रवल होता है, जहाँ अधिक से अधिक लोगों को अपनी रचनाएँ प्रस्तुत करने का सार्वजनिक अवसर मिलता है। रंगमंच की कल्पना किसी एक मकान, चबूतरे, भव्य नाट्यगृह तथा साज-सज्जायुक्त किसी ऊँचे स्थल तथा अट्टालिका से ही साकार नहीं होती। वह कोई स्थूल वस्तु नहीं। वह तो एक महान् विचार है तथा प्रवृत्ति मात्र है जिससे मनुष्य की रागात्मक तथा रचनात्मक वृत्तियों को अभिव्यक्ति मिलती है। रंगमंच एक ऐसा अदृश्य दर्पण है जिसमें समाज के हृदय और उसकी कल्पना का एक अत्यन्त सुमधुर स्वरूप अंकित होजाता है और उसीमें वह अपनी उदात्त भावनाओं का उनके नाना स्वरूपों में दर्शन कर लेता है। वह ऐसा दर्पण है जिसमें समाज की आनन्द-दायिनी भावनाएँ द्विगुणित प्रकाशमान होकर समाज को जीवन प्रदान करती हैं।

ऐसी सार्वजनिक रंगस्थलियों पर समाज के श्रेष्ठ कलाकारों के नृत्य, नाट्य, खेल, तमाशे आदि होते हैं। वहाँ प्रतिदिन सांस्कृतिक तथा साहित्यिक कार्यक्रम कीर्तन, भजन आदि भी होते हैं। वहाँ वेश-विन्यास तथा अलंकार के श्रेष्ठ चमत्कार दिखलाये जाते हैं तथा सार्वजनिक समारोह एवं त्यौहार मनाये जाते हैं। इन रंगमंचों पर समाज और क्षेत्र की श्रेष्ठ प्रतिभाएँ अभिव्यक्त होती हैं तथा अनेकों छिपी हुई सांस्कृतिक प्रतिभाओं को प्रकाश में आने का अवसर मिलता है। इन्हीं रंगमंचों पर निरन्तर अभ्यास और प्रयोग के वाद अनेक छिपी हुई प्रतिभाएँ राष्ट्रीय प्रतिभाएँ वन जाती हैं। इन्हीं रंगमंचों पर अनेक नये-पुराने लोकगीत, लोकनाट्य तथा लोकनृत्य सामाजिक धरोहर वनते हैं। इन्हीं से अनेक उदीयमान कलाकारों के उज्ज्वल भविष्य की नींवें पड़ती हैं। इन्हीं से अनेकों हृदयों के दरवाजे खुलते हैं तथा अनेकों की भावतंत्रियाँ झंकृत होती हैं।

## ३. कलामय जीवन – श्रेष्ठ जीवन :

आज हमारे विश्वविद्यालय और कॉलेज विध्वंस, विद्वेष तथा विवादों के घर वन गये हैं। पढ़ाई-लिखाई चौपट होरही है और तोड़-फोड़, घेराव, हड़ताल तथा नारेवाजी ने समस्त शैक्षणिक वातावरण को दूषित कर दिया है। हमारे समस्त साम्प्रदायिक, राजनैतिक एवं भाषायी वैमनस्यों के लिए इन्हीं विद्यार्थियों को माध्यम वनाया जारहा है। फलतः देश की भावी पीढ़ी भयंकर रूप से

गुमराह होरही है। ऐसी स्थिति में रचनात्मक कार्य करनेवाले समाज-सेवियों, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक संस्थाओं, विद्वानों, विचारकों, धर्मगुरुओं तथा अन्य सब प्रवुद्धजनों का यह कर्त्तव्य है कि इस समय वे देश की लगाम अपने हाथों से न छूटने दें। ये ही ऐसी शक्तियाँ हैं जो देश को सही रास्ता दिखला सकती हैं। राजनैतिक, भाषायी तथा अन्य प्रादेशिक एवं साम्प्रदायिक संस्थाएँ तो तात्कालिक हैं परन्तु मानव-निर्माण का कार्य तो सृजनात्मक कार्य करनेवाले व्यक्तियों एवं संगठनों के जिम्मे ही रहेगा। इन सबमें भावों का परिष्करण सर्वाधिक महत्त्व का है।

बौद्धिक विकास के लिए मनुष्य को नाना प्रकार का पुस्तकीय एवं व्यावहारिक ज्ञान कराया जाता है परन्तु भावात्मक विकास के लिए पुस्तकों से कहीं अधिक कलात्मक अनुभव एवं कलामय व्यवहार की सर्वाधिक आवश्यकता होती है। जव-जब देश में विनाशकारी एवं विघटनकारी शक्तियाँ बढ़ीं, तब-तब साहित्य, काव्य, संगीत, नृत्य, भजन, कीर्तन एवं अन्य सब सृजनात्मक प्रवृत्तियों ने जनमानस को सही दिशा दिखलाई और प्रेम तथा सौहार्द ने वैमनस्य और मानसिक कुण्ठाओं को पराजित किया। मनुष्य की जब भावात्मक वृत्तियाँ कुंठित हो जाती हैं और बुद्धि भावनाओं पर हावी हो जाती है तभी मनुष्य गुमराह होने लगता है, अपना विवेक और आपा छोड़ बैठता है और क्षुद्र प्रवृत्तियों में अपनी शक्तियाँ खपाता है। विद्यार्थियों को यदि अपने शैक्षणिक जीवन में ये सब सृजनकारी सुविधाएँ मिलें, स्वस्थ खेलकूद, नाट्य, संगीत, नृत्य, अभिनय एवं कला-सृजन में उनकी अभिरुचि जागृत की जाय तो निश्चय ही उनकी भावनाओं का उचित संस्कार हो सकता है। जो बात हमारे वालक, नवयुवक एवं नवयुवतियों के लिए कही जा सकती है वही बात समस्त समाज पर भी लागू होती है। समाज को आज भावात्मक अभिव्यक्ति के साधन उपलब्ध नहीं होरहे हैं।

## ४. फिरकापरस्ती और सांस्कृतिक दायित्व :

हम यह भूल गये हैं कि हमारे पूर्वजों ने गीतों, नृत्यों, नाटकों, भजनों, पुतलियों एवं सांस्कृतिक पर्व-समारोहों से समस्त समाज की काया पलट दी। कबीर ने अपने गीतों से अनेक अंधविश्वासों और सामाजिक कुरीतियों में फँसे-हुए समाज को उबार लिया। तुलसी और सूरदास ने अपने गीतों और भजनों से डूबते हुए समाज को बचा लिया। तुकाराम, नामदेव आदि संतों ने अपने भजनों से समाज की काया पलट दी। देश के कोने-कोने में फैले हुए असंख्य लोकनाट्यों तथा पुतली-प्रदर्शनों ने समाज को अपनी सांस्कृतिक संपदा के दर्शन कराये तथा अपने ऐतिहासिक और धार्मिक महापुरुषों के जीवनादर्श को जीवन

में उतारा। ये ही नाटक और पुतलियाँ महाभारत और रामायण के महान् पात्रों को पूर्वी एशियाई देशों में लेगई जहाँ उन्होंने वहाँ के निवासियों पर भारतीय संस्कृति की गहरी छाप छोड़ी। आज भी हमारी रामलीलाएँ, रास-लीलाएँ, जात्राएँ और तमाशे समाज को अपने स्वस्थ अतीत के दर्शन कराते हैं, स्वस्थ मनोरंजन प्रदान करते हैं तथा पारस्परिक भेदभाव भुलाते हैं। ये ही मनोरंजन के विविध साधन प्रान्त-प्रान्त और क्षेत्र-क्षेत्र का भेदभाव भुलाते हैं। जाति, समाज, क्षेत्र एवं सम्प्रदाय की कुत्सित और संकीर्ण भावनाओं को दूर करते हैं। परन्तु आधुनिक मनोरंजनों के सस्ते और निम्नस्तरीय प्रकारों ने इन पारम्परिक स्वस्थ साधनों पर करारी चोट पहुँचाई है जिससे ये स्वयं विकृत होकर निम्नावस्था को पहुँच गये हैं।

'हमारा राष्ट्र एक है' -- यह भावना दुर्बल होती जारही है क्योंकि हम प्रादेशिक दृष्टि से अधिक सोचने लगे हैं। प्रदेश की बात को लेकर राष्ट्र का हित कभी-कभी ओझल होजाता है। प्रादेशिक सीमा या प्रादेशिक हितों के प्रश्नों पर हम अपना संतुलन खो बैठते हैं। विविध राजनैतिक दलों ने भी अपना कर्तव्य भली प्रकार नहीं निभाया है। राष्ट्रहित को दलहित के सामने वे कुछ भी नहीं समझते हैं। दल को मजबूत बनाने में राष्ट्र कमजोर भी होजाय तो उसकी उन्हें चिन्ता नहीं है। व्यक्तिगत स्वार्थ की बात तो इतनी बढ़ गई है कि उसके सामने समाज एवं राष्ट्र का हित कुछ भी नहीं रहा है। छोटे फिरकों में बँटाहुआ हमारा समाज फिरकों की दृष्टि से ही सोचता है। इन फिरकों के साथ जुड़ेहुए सम्प्रदाय, धर्म, मंदिर एवं उपासरे भी हमें जोड़ने के बजाय तोड़ने की चेष्टा करते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि जाति, समाज, सम्प्रदाय, क्षेत्र, परिवार, प्रदेश, भाषा, सीमा तथा राजनैतिक दृष्टि से हम विलगाव का अनुभव कर रहे हैं और ये प्रश्न हमारी राष्ट्रीय विचारधारा एवं एकता में बड़ा अनिष्ट-कारी प्रभाव डाल रहे हैं। यदि इस विलगाव में कोई पक्ष जिन्दगी का बच रहा है तो वह हमारा सांस्कृतिक पक्ष ही है। हम ज्ञान, विज्ञान, संगीत, नृत्य, नाट्य, काव्य, फिल्म एवं मनोरंजनकारी विधाओं की दृष्टि से अभी भी एक हैं। हमारे देश में ये ही ऐसे पक्ष हैं जिनमें राष्ट्रीय तत्त्वों का ह्रास नहीं हुआ है। हम उनमें राष्ट्र की एक सम्पूर्ण तस्वीर के दर्शन अभी भी कर रहे हैं।

### ५. सांस्कृतिक पक्ष – एकता के एटम :

राष्ट्रीय एकता की भावना को परिपुष्ट करने के लिए इस समय जितना कार्य सांस्कृतिक पक्ष कर सकते हैं उतना कोई नहीं। धार्मिक संस्थाओं के उन

संकीर्ण तत्त्वों पर, जो एक धर्म और दूसरे धर्म में झगड़ा करवाने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझते हैं, राष्ट्रीय एकता की जिम्मेदारी छोड़ना खतरे से खाली नहीं है। धर्म के वे ही व्यापक पक्ष जो सम्प्रदाय की सीमा में बँधे न हों और जो धार्मिक व्यवहार की संकीर्ण बातों पर जोर न देकर उसके व्यापक नैतिक पक्ष पर ही ध्यान देते हों, राष्ट्रीय एकता के काम को सफलतापूर्वक कर सकते हैं। राजनैतिक दल भी इस कार्य में सक्रिय हो सकते हैं परन्तु आज देश की राजनीति की जो स्थिति है उसे देखकर उनसे अधिक सफलता की आशा नहीं की जा सकती। देश के प्रबुद्धजन एवं व्यापक दृष्टि से राष्ट्रीय प्रश्नों पर विचार करनेवाले महानुभाव इस कार्य के महत्त्व को समझकर अपने परिवार, व्यक्तिगत सम्पर्क एवं व्यवहार से इस काम में अवश्य ही प्रभावकारी सिद्ध हो सकते हैं। शिक्षकों पर तो इस कार्य की सर्वाधिक जिम्मेदारी है ही बशर्ते कि प्रत्येक शिक्षक इस पहलू को राष्ट्रीय दृष्टि से देखता हो। आजकल तो शिक्षा के कई केन्द्र छात्रों पर अपनी प्रभावहीनता के कारण तोड़-फोड़ और अव्यवस्था के केन्द्र बनेहुए हैं।

### ६. राष्ट्रीय एकता – भावात्मक एकता :

राष्ट्रीय एकता और भावात्मक एकता में गहरा संबंध है। भावात्मक एकता से ही राष्ट्रीय एकता सम्पन्न हो सकती है। केवल भाषण तथा तर्क-वितर्क से भावात्मक एकता संभव नहीं। यह तो जीवन का एक ऐसा पक्ष है जो भावनाओं के परिष्कार से संबंध रखता है। परिष्कृत भावनाएँ ही व्यापक मानवीय दृष्टिकोण पैदा करती हैं और उसी से राष्ट्रीय एकता के पक्ष पर एक उदार दृष्टिकोण बन सकता है। भावनाओं के अपरिष्कार से ही संकीर्णताएँ उत्पन्न होती हैं और हम संकीर्ण दायरे में ही सोचते हैं। अतः राष्ट्रीय एवं भावात्मक एकता के लिए भावनाओं के परिष्कार की सर्वाधिक आवश्यकता है। इस कार्य में कला सदा ही व्यापक भूमिका अदा करती रही है। नृत्य, नाट्य, गीत, मनोरंजनात्मक प्रवृत्तियाँ, पर्व, त्यौहार, उत्सव, सामूहिक गायन, नर्तन आदि भावनाओं के परिष्कार में मदद करते हैं तथा दिल के दायरे को बढ़ाते हैं। हमारे देश की राष्ट्रीय एकता में पर्व, त्यौहार, तीर्थ आदि सदा ही सहायक रहे हैं। अतः राष्ट्रीय एकता के लिए इनका आधार भी व्यापक रूप से लिया जाय तो बहुत सफलता मिल सकती है।

### ७. कला-प्रतिष्ठान और रसहीन लोकजीवन :

देश में कला के ऐसे प्रतिष्ठानों की कमी नहीं है जहाँ उनके विविध स्वरूपों पर प्रयोग, प्रशिक्षण एवं विकास के लिए ऊँचे से ऊँचे प्रयत्न न किए

जारहे हों। ऐसे प्रयत्नों में जितने धन की आवश्यकता होती है वह सरकारी और गैर-सरकारी स्रोतों से भरपूर मात्रा में उपलब्ध होजाता है परन्तु उस कला की बात कोई नहीं सोचता जो जन-जन में व्याप्त है, जिसका उपयोग जीवन के प्रत्येक दैनिक, सांस्कारिक एवं सांस्कृतिक पक्ष में होता है और जो आज तीव्र गति से होनेवाले नागरीकरण की शिकार होती जारही है और उसकी चुनौतियों का मुकाबला करने में अपने को असमर्थ पारही है। परिणाम यह होरहा है कि हमारे लोकजीवन को परिस्फुटित और आह्लादित करनेवाले त्यौहार, पर्व सांस्कृतिक समारोह, लोकधर्मीनाट्य, नृत्य, गीत एवं अन्य मनोरंजनकारी विधाएँ अशक्त होती जारही हैं। लोकजीवन सूखा, म्लान एवं रसहीन होरहा है। उसमें अब जीवन के संघर्ष झेलने तथा अपने दु:ख-दर्दों को भूलने की ताकत खत्म होती जारही है। इसीलिए आज इतनी तोड़-फोड़, जीवन की निरुद्देश्यता, कलाविहीनता, पारस्परिक ईर्ष्या तथा जीवन के प्रति उदासीनता प्रकट होरही है।

## ८. गाँवों के मनोरंजन – नगरों की चौपटता :

गाँवों के मनोरंजन और उनके मनोरंजन-प्रदाता खत्म होगये तो देश की बहुत बड़ी थाती खत्म हो जायगी। उनका स्थान जो भी मनोरंजन लेगा वह नगरों को तो बरबाद करेगा ही, गाँवों को भी ले डूबेगा। अत: गाँव-गाँव में खुले रंगमंच बनें; गाँवों की नृत्य-नाट्य मंडलियों को मार्गदर्शन मिले; सरकार से पर्याप्त मात्रा में प्रोत्साहन मिले; धन मिले तथा कला-विकास के लिए उन्हें साधन-सुविधाएँ उपलब्ध हों; उन्हें अपनी कला प्रस्तुत करने, सजाने, सँवारने के सुअवसर मिलें; जगह-जगह मेले-त्यौहार लगें; इन कलाकारों के संगठन बनें; उन्हें अपनी कला बढ़ाने की खुराक मिले; अपनी वेशभूषा सुधारने, साजबाज खरीदने तथा उपकरण प्राप्त करने के लिए उनके पास पर्याप्त धन उपलब्ध हो। जबतक हमारी योजना में इस ओर बढ़ने के लिए साधन न होंगे, जितना धन आज हम कला-विकास में खर्च करते हैं उसका अधिकांश इस ओर नहीं जायगा तब तक न तो कला-विकास होगा और यदि होगा भी तो वह देश को सही दिशा नहीं देगा। देश में आज जितनी कला-अकादमियाँ हैं उनके जिम्मे यह काम डाला जाय। संगीत, नृत्य, नाट्य, फिल्म आदि के बड़े-बड़े प्रतिष्ठान, प्रशिक्षणालय, शोधालय तो सरकार स्वयं खोले, परन्तु अकादमियों को यह जिम्मा देदे, उनको पर्याप्त धन देदे कि वे इस खोई हुई सम्पदा को पुन: प्राप्त कर उसे सजायें-सँवारे।

## ९. लोकगीत और उनकी गायकी :

लोकगीतों की न केवल शब्द-रचना वल्कि स्वर-रचना भी किसी प्रयास से नहीं होती। वह अनायास ही हृदय के उद्‌गारों के साथ किसी व्यक्ति के कण्ठ से उद्‌भासित होकर जन-जन के कंठों की शोभा वन जाती है। ज्यों-ज्यों समय वीतता जाता है ये गीत एक से अनेक कंठों पर चढ़ जाते हैं और उनमें शब्दों और स्वरों की दृष्टि से प्रौढ़ता आती जाती है। धीरे-धीरे समय और समाज की कसौटी पर कसकर ये गीत अर्थ-माधुर्य तथा स्वर-रचना की दृष्टि से सर्वगुण-सम्पन्न हो जाते हैं। इनकी गायकी में भी आमूलचूल परिवर्तन होने लगते हैं। गायकी न तो राग की परिभाषा है न स्वयं ही कोई राग है – यह तो गाने का एक ढंग मात्र है जो समय और समाजगत रूढ़ि के रूप में समाज द्वारा स्वीकृत समझा जाता है।

एक ही गीत के गाने की अनेक गायकियाँ हो सकती हैं। यह गायकी विशिष्ट सामाजिक एवं वैयक्तिक स्थितियों से परिपूर्ण होती है। जैसे यदि कोई गीत किसी अशिक्षित या अपरिचित समाज में घुमाफिरा हुआ है तो उसके गाने का ढंग अत्यंत सरल और प्राथमिक होता है। यदि वही गीत किसी शिक्षित तथा संस्कृतवर्ग की धरोहर बनता है तो उसकी गायकी अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत और परिमार्जित होती है। मूल में तो उन गीतों की रागें एक समान ही होती हैं परन्तु धीरे-धीरे वातावरण तथा अभ्यासीवर्ग के संसर्ग से उनमें रंगत आने लगती है। यदि ये ही गीत सामुदायिक स्तर से ऊपर उठकर किसी व्यक्ति-विशेष की रुचि की चीज वन जाते हैं तो भी उनकी गायकी में आमूल-चूल परिवर्तन होने लगता है। ये गीत यदि किसी पेशेवर कलाकार की धरोहर वनते हैं और उनमें आजीविका उपार्जन की जिम्मेदारी भी होती है तो निश्चय ही उन गीतों में कुछ कमनीयता तथा ताल-मुर्कियों की वहार आने लगती है। राजस्थानी गीतों में ऐसे गीतों की संख्या कम नहीं है जैसे–मांड, तीज, गणगौर, जला, जमाई, पणिहारी, पीपली आदि-आदि। यदि इन गीतों के लोकसंस्करण हम सुनें या एकत्रित करें तो हमें अनुभव होगा कि इन दोनों शैलियों में जमीन-आसमान का अंतर है। राजस्थान की ढोली, मिरासी, लंगा, कामड़ आदि पेशेवर गानेवाली जातियों द्वारा गायेजानेवाले व्यावसायिक गीतों में इसी विलक्षण गायकी के दर्शन होते हैं। शादी, विवाह, उत्सव, त्यौहार आदि के गीत जिन्हें आमतौर से सभी राजस्थानी स्त्रियाँ उपयुक्त अवसरों पर गाती हैं, जब पेशेवर कलाकारों के कंठों पर चढ जाते हैं तो उनकी रंगत ही वदल जाती है।

## १०. अध्येताओं की कला :

मैं व्यक्तिगत रूप से यह मानता हूँ कि अब हम अध्येता बनकर ही नहीं रह सकते। इन अध्येताओं एवं शोधकर्मियों की अब देश में कोई कमी नहीं है। ढेर के ढेर हमारी संस्था पर हमला बोलते हैं और बिना मेहनत किए हमसे सामग्री प्राप्त करने का यत्न करते हैं। इन अध्येताओं का मूल स्रोतों से कोई विशेष संबंध नहीं होता और न वे इतना कष्ट उठाने की चेष्टा ही करते हैं। इस प्रकार के अध्ययन एवं अध्येताओं का जब तूफान बढ़ जायेगा और हमारी कला-परम्पराएँ बिना संभाल किए हीनावस्था को पहुँच जायेंगी तो ये अध्येता फिर किसका अध्ययन करेंगे ?

## ११. लोककला का स्वरूप :

लोककला का तो सर्वदा ही निर्झरी स्वरूप होता है। वे पुरातत्त्व एवं प्राच्य-विद्या की सामग्री नहीं हैं। प्रतिपल उनमें समाज की प्रतिभा का पुट लगा रहता है। नितनवीन स्फुरणाएँ, नितनवीन भावनाएँ उनमें गुंफित होती रहती हैं और वे सदा ही नये जमाने के साथ चलती रहती हैं। यह निर्झरी स्वरूप यदि कहीं समाप्त होगया तो फिर समस्त लोक-सम्पदा केवल संग्रह की ही वस्तु बन जायेगी। लोकजीवन शिथिल हो जायेगा। उसके प्राण मुर्झा जायेंगे। अतः यह बहुत आवश्यक है कि हम इन कला-सम्पदाओं के विकास, प्रचार, प्रयोग, नव-स्फुरण एवं शक्ति-संचरण का कार्य अत्यंत विधिपूर्वक करें तथा उसकी आत्मा को निखारें।

## १२. राजनीति – एक फोड़ा :

हम जबतक यह नहीं मानेंगे कि राजनीति का शिक्षा, संस्कृति, विज्ञान, कला, धर्म, साहित्य आदि से कोई मतलब नहीं है, वह उसका नियमन नहीं करती बल्कि शिक्षा और संस्कृति उसका नियमन करती हैं तबतक देश के उन्नयन की कोई आशा नहीं की जा सकती। किसी भी देश की भावनाओं का परिष्कार करने वाली राजनीति नहीं होती, वह तो उनका बिगाड़ करती है। परिष्कार करने वाली विधाएँ साहित्य, कला, शिक्षा, संस्कृति एवं विज्ञान हैं। इनके शाश्वत मूल्यों को समझना होगा। भावात्मक परिष्कार के लिए उनमें जो ताकतें छिपी हैं उनका पता लगाना होगा और उन पर अमल करना होगा।

हमने राजनयिकों को अपना सर्वेसर्वा मान लिया इसीलिए वे जो कुछ भी कहते हैं वही हमारा आदर्श बन जाता है। वे जो कुछ भी करते हैं उनमें हम

शरीक हो जाते हैं। छात्रगण नारे लगाते हैं, धार्मिक संस्थान राजनैतिक अड्डे बन जाते हैं, शिक्षालय राजनीति के रंगमंच बन जाते हैं, साहित्यकार राजनीति की ही कविता रचने लगता है, कलाकार किसी विचार-विशेष के प्रतिपादन हेतु ही कला-सृजन करता है, धर्मगुरु भी किसी दलगत विचार ही का प्रतिपादन करता है, सामाजिक कार्यकर्त्ता स्वयं ही राजनीति के भोंपू बन जाते हैं तो फिर मानव के स्थायी मूल्यों को बढ़ावा कहाँ मिल सकता है? सार्वजनिक भावात्मक अभिव्यक्ति किसी विशिष्ट गली में विचरण करने लगती है। मेले, त्यौहार, सामुदायिक नृत्य, गान, पर्व, समारोह सब राजनीति के ही गुणगान करते हैं। नतीजा यह होता है कि उनके शाश्वत मूल्य एवं उनका स्वस्थ स्वरूप, जो किसी भी राजनैतिक विचारधारा से परे होता है या जिसका एक मानवीय स्वरूप ही शक्तिशाली होता है, कहीं धरा रह जाता है। जिन छात्रों, कवियों, कलाकारों, साहित्यकारों, धार्मिक जनों एवं सामाजिक तत्त्वों को हम अपने विचारों के प्रतिपादन में प्रयुक्त करते हैं वे ही किन्हीं विपरीत परिस्थितियों में उनके शत्रु बन जाते हैं और देश के फोड़ों की तरह बहने लगते हैं।

### १३. लोकसाहित्य की कसौटियाँ :

हम यह भूल जाते हैं कि लोकसाहित्य की कसौटियाँ वे नहीं हैं जो आचार्य-प्रवरों द्वारा परम्परा से निर्धारित की हुई हैं। ये शास्त्रोक्त कसौटियाँ हिन्दी के आधुनिक साहित्य पर भी जब लागू नहीं होतीं तो लोकसाहित्य के लिए कैसे उचित हो सकती हैं? लोकसाहित्य का रचयिता, जो प्रधानतः समस्त समाज ही होता है, साहित्य-सृजन की उन प्रक्रियाओं के बीच नहीं गुजरता जिनमें व्यक्ति-विशेष गुजरता है। लोकसाहित्य की विशिष्ट भावभूमि किसी व्यक्ति-विशेष की न होकर समस्त समाज की होती है। अतः भावोद्रेक की अनुभूत स्थितियाँ रसप्लावन के उस गहन स्तर तक पहुँच जाती हैं जिनका अवगाहन समुद्र की तह की तरह साधारण समीक्षक के बस की बात नहीं है। लोकसाहित्य में अन्तर्हित शृंगार इसी अवगाहन एवं गहन संचरण के कारण वह शृंगार नहीं है जो ऊपर से तो साधारण रोमांस सा लगता है परन्तु वह शृंगार से बाहर निकल कर संभवतः किसी अन्य रस का आस्वादन कराता हुआ सा पाया जाता है। साधारण शाब्दिक अर्थ भी लोकसाहित्य में निराला ही अर्थ ग्रहण कर लेता है जिसका समाधान शब्दकोष भी नहीं कर सकता। अनेक शब्द एवं अर्थ ऐसे होते हैं जो जनजीवन में प्रचलित एवं स्वीकृत तो नहीं होते परन्तु विशिष्ट

परिस्थिति में विशिष्ट प्रयोजन के लिए रचेहुए होते हैं जो आधुनिक साहित्य-समीक्षकों की निगाह में असाहित्यिक प्रक्रिया का आभास दे सकते हैं।

लोकसाहित्य में वर्णित कथाएँ, लोकाचार, लोकव्यवहार, जीवनदर्शन आदि भी अपनी विशिष्ट पृष्ठभूमि पर अवस्थित रहते हैं। कभी-कभी मान्य सिद्धान्त, गंभीर जीवन-तत्त्व एवं लौकिक व्यवहार की वे सब मान्य बातें लोकसाहित्य में इस तरह प्रयुक्त होती हैं जिनकी गहराई में उतरे बिना वे हास्यास्पद सी लगती हैं। लोकनाट्यों में अनेक ऐसे पद एवं काव्य दृष्टिगत होते हैं जो ऊपर से केवल तुकबंदियों जैसे लगते हैं परन्तु लय, स्वर, ताल, रंगमंचीय प्रस्तुतीकरण एवं पात्रों के वैयक्तिक गुणों के रूप से वे ही कृतियाँ अत्यधिक सारगर्भित लगने लगती हैं। लोकसाहित्य को शास्त्रीय व्याकरण की कसौटी पर कसकर भी हमें अनेक भ्रांतियाँ हो सकती हैं। जो प्रयोग पारम्परिक साहित्य में व्याकरणिक दृष्टि से गलत हैं वे ही प्रयोग लोकसाहित्य में शुद्ध प्रयोग माने जाते हैं। पारम्परिक काव्य की छन्द-व्यवस्था लोककाव्य की छन्द-व्यवस्था से बिल्कुल भिन्न है।

सच पूछिए तो लोकसाहित्य में वैयक्तिक प्रयास एवं वैयक्तिक सृजन का तत्त्व इतना नगण्य है कि किसी भी निश्चित छन्द-परिपाटी तथा काव्य-रचना-विधान का परिपालन प्रायः हो ही नहीं सकता। अतः लोककाव्य में छन्द-विधान, अलंकार एवं रस-विधान की कल्पना करना नितान्त भूल ही है। आधुनिक साहित्य-सृजन की तरह ही लोकसाहित्य भी अपनी सृजन-प्रक्रियाएँ अपने आप बनाता है तथा तुरंत बिगाड़ भी देता है। यदि किसी विशिष्ट सृजन-प्रक्रिया में किसी बात की कहीं कमी भी रह जाती है चाहे वह छन्द, लय, शब्द-प्रयोग, अर्थ-व्यवहार, वाक्य-विन्यास, वाक्य-गठन, विषय-प्रतिपादन, रस-भाव आदि की ही क्यों न हो तो लोकसाहित्य की सामाजिक सृजन-प्रक्रिया में वे सब कमियाँ अपने आप निकलती चली जाती हैं। यही कारण है कि लोकसाहित्य एक निरन्तर बहनेवाले निर्झर की भांति प्रतिपल नवीन जल प्राप्त करता है। पुराने गंदले जल को निर्मल करतेहुए एक भीमकाय नदी का रूप धारण कर लेता है।

### १४. लोकसाहित्य का पाठ्यक्रम :

लोकसाहित्य का अध्ययन पुस्तकीय पठन-पाठन से संबंधित नहीं है। यदि लोकसाहित्य के छात्रों को क्षेत्रीय भ्रमण नहीं कराया गया, लोकसाहित्य के विविध उद्गम-स्थलों एवं उनके ज्ञाताओं से संपर्क नहीं कराया गया तो उनका अध्ययन बिल्कुल अधूरा रह जायेगा। सच पूछिए तो लोकसाहित्य का

कठपुतली नर्तक :
अद्भुत करामात
[१९६६]

सामरजी : अपने कठपुतलीचालकों के साथ पुतली चलाते हुए [१९६६]

कला मण्डल के संस्थापक-संचालक सामरजी और
व्यवस्थामंत्री श्री रूपलाल शाह [१९७०]

सामरजी और ग्रन्थ-प्रणेता डॉ० महेन्द्र भानावत [१९७०]

पाठ्यक्रम तो होना चाहिए, परन्तु पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यकता ही नहीं होनी चाहिए। लोकसाहित्य की पुस्तकें स्वयं लोकसाहित्य का क्षेत्र ही है। जिस विधा के अध्ययन की आवश्यकता हो उसके लिए छात्रों को या तो विधा के पास लेजाना चाहिए या स्वयं विधा ही को छात्रों के पास लेआना चाहिए। प्रत्येक साहित्य के विभाग में लोकगीतों का ध्वनि-संकलित वृहत् संग्रह होना चाहिए, जिसे सुनकर अध्येता स्वयं लोकगीतों का उनके स्वरों के साथ, रसास्वादन एवं अध्ययन भी कर सकें। लोकसाहित्य विभाग में क्षेत्रीय लोक-साहित्यिक विधाओं का एक ऐसा विगतवार नक्शा होना चाहिए जिससे समस्त विधाओं का एक साथ ही परिचय मिल सके। लोकसाहित्य के छात्र-अध्येताओं के चुनाव में इस बात का भी अवश्य ध्यान रखा जाय कि संगीत, नृत्य, नाट्य आदि में उनकी केवल रुचि ही नहीं तनिक गति भी हो।

लोकनाट्य, नृत्य, संगीत, वार्ता आदि को लोकसाहित्य से अलग करना दूध से पानी को अलग करने के बराबर है। लोकनाट्य का अध्ययन हिन्दी के गद्यनाट्यों के समान नहीं है। आधुनिक नाटक के अध्ययन के लिए नाटक की भाषा, चरित्र-चित्रण, कथानक, नाट्य-शिल्प, विषय-प्रतिपादन आदि जितने महत्त्वपूर्ण हैं उतने लोकनाट्यों में नहीं हैं। लोकनाट्यों में भाषा का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। चरित्र-चित्रण जैसी कोई चीज ही उसमें नहीं है न उसमें कोई नाट्य-शिल्प ही है। कथा-प्रसंग की भी उसमें कोई महत्ता नहीं है न नायक-नायिका का शास्त्रीय नाटकों की तरह कोई विधि-विधान है। लोक-नाट्य में यदि कोई प्रमुख बात है तो उसका संगीतात्मक कथोपकथन है। यही समस्त नाटक का प्राण है। कथोपकथन में भी उसकी गायकी तथा उसका भंगिमा-प्रकरण ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। दूसरा महत्त्वपूर्ण अंग है उसका प्रस्तुतीकरण। यदि लोकसाहित्य के अध्येताओं को लोकनाट्य की छपी हुई प्रतियाँ दे दी गईं तो उनसे उनके कुछ भी पल्ले नहीं पड़ेगा। अधिकांश लोक-काव्य भी उनके शब्दों में अन्तर्हित नहीं होता। उसके गीतपक्ष को जाने बिना तथा स्वरों के सागर में गोते लगाए बिना हम उस गीत के काव्यपक्ष को प्राप्त कर ही नहीं सकते।

लोकगाथाओं की यों तो अनेकों पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, संभवतः उनमें कुछ पुस्तकें पाठ्य-पुस्तकों के रूप में भी निर्धारित हैं। इसी तरह लोक-गीतों की पुस्तकों की भी कोई कमी नहीं है। इन गीतों, वार्ताओं तथा गाथाओं की पुस्तकें पढ़ने मात्र से लोकवार्ताओं एवं लोकगीतों का अध्ययन नहीं हो

सकता। प्रत्येक लोकवार्ता एवं लोकगीत में उनके लहजे एवं खटके ही प्रमुख होते हैं। लोकवार्ता तो केवल गद्यमात्र है परन्तु सुनने पर वह गद्य जैसी नहीं लगती। वार्ताकार एवं गाथाकार उन्हें इस तरह कहता है कि वे विशिष्ट गायकी का ही प्रभाव पैदा करती हैं। अतः लोकसाहित्य के अध्येताओं को केवल यह जानना ही आवश्यक नहीं है कि गाथा की भाषा कैसी है या विषय का प्रतिपादन कैसा हुआ है या उसमें अन्तर्हित गूढ़ार्थ कैसा है। वास्तव में लोकगीत और लोकवार्ता का अध्ययन गीत के स्वर-चयन, उसके विशिष्ट खटके, उसकी लय, ताल एवं उसमें निहित लोकजीवन की महत्त्वपूर्ण झलकियों में निहित है। यह सब कार्य तभी हो सकता है जब छात्र-अध्येताओं को क्षेत्रीय सम्पर्क में रखा जाय। यदि यहाँ भी संभव न हो तो इस विषय के ज्ञाताओं की सेवाएँ उपलब्ध की जायँ। लोकसाहित्य के प्रत्येक छात्र को फोटोग्राफी का भी ज्ञान होना चाहिए। विभाग में क्षेत्रीय कार्य के लिए ध्वनि-संकलन-यंत्र, फोटो-केमरे आदि भी हों और छात्रों को उसका पूर्ण ज्ञान भी कराया जाय। जब भी छात्र अपने क्षेत्रीय कार्य के लिए क्षेत्र में जायें तो उन्हें अपने साथ रेकार्डिंग मशीन एवं केमरा आदि अवश्य लेजाना चाहिए।

## १५. लोककथाओं की परिपक्वता :

लोककथाएँ अपने आप में इतनी परिपक्व होती जाती हैं कि समाज के अनेकानेक संस्कारों एवं विश्वासों के साथ ये सदा के लिए जुड़ जाती हैं। सायंकाल सोने से पूर्व बच्चों के शुभाशीर्वाद एवं शुभ निद्रा के लिए इनका वाचन आवश्यक हो जाता है। व्रतों एवं पर्वों के लिए इनका कथन जीवन का लाजमी अंग बन जाता है। वैवाहिक एवं मांगलिक प्रसंगों पर ये कथाएँ विशिष्ट संस्कारों की भागीदार बन जाती हैं। दशामाता, पीपली-पूजा, चंद्र-दर्शन, पूर्णिमाव्रत-विसर्जन, गौर-पूजा आदि के साथ ये कथाएँ आराधन का अंग बन जाती हैं। इन्हें सुने बिना व्रत-उपवास तोड़े नहीं जा सकते। दम्पति पाणिगृहीत नहीं होते, आदिवासी किसी भी सांस्कारिक शिकार में अग्रसर नहीं हो सकते। इन्हें अपने शिष्यों को कहे बिना गुरुजन भोजन नहीं करते। इन्हें सुने बिना शिष्यगण दीक्षित नहीं होते। इनके विधिवत् कथन के साथ ही मंदिरों के कपाट खुलते हैं। इनके विधिवत् श्रवण के बिना पण्डित पिण्डदान नहीं देते तथा यजमानों को गंगा-स्नान नहीं कराते।

ये तो वे कथाएँ हैं जो जीवन के साथ संस्कारवत् जुड़ गई हैं। इनका प्रत्येक शब्द, वाक्य एवं कथा-प्रसंग पूजा के पत्थर के समान ऐसा रूढ़ होगया

है जिसमें किसी प्रकार के परिवर्तन की गुंजाइश नहीं। प्रत्येक व्यक्ति इन्हें समझे-बिनसमझे श्रद्धावनत उसी रूप में सुनने का आदी होगया है जिस रूप में वह सदियों से सुनता रहा है। परन्तु अनेक कथाएँ ऐसी हैं जो अभी भी बहते हुए स्रोत की तरह निर्मल तो हैं परन्तु अनेक नए स्रोत अपने में समाविष्ट करने को तत्पर रहती हैं। उनका प्रवाह जीवन-प्रदायिनी शक्ति से ओतप्रोत रहता है। उनके स्वाद में वह मज़ा है जो शब्दों में वर्णित नहीं किया जा सकता। उनका प्रभाव जीवन की रामबाण औषध जैसा होता है। उन्हें बुढ़ियाएँ कहती हैं, बच्चे सुनते हैं, प्रौढ़जन आनन्द-विभोर होजाते हैं। समाज उनसे मार्गदर्शन पाता है। वे भूले-भटकों को रास्ता दिखाती हैं; संतप्त हृदय को संतापहीन करती हैं; विरहिणी स्त्रियों को हिम्मत बंधाती हैं; दुर्बलजन में प्राणों का संचार करती हैं; युद्ध से मुख मोड़कर आनेवालों को पुनः युद्ध की ओर आमुख करती हैं तथा निराश लोगों के जीवन में आशा का संचार करती हैं। इन्हें सुनते-सुनते रातें बीत जाती हैं। कई दिन निकल जाते हैं। दिन भर की थकान दूर होजाती है। दूर निकल जाने वाले पथिकों को जल्दी-जल्दी घर की ओर बढ़ाती हैं। ये वे कथाएँ हैं जो अबतक लिखी नहीं गईं, इनका किसी ने अबतक साहित्य-विश्लेषण नहीं किया, इनके गुण-दोषों को नहीं आंका, इनको सुनने-सुनाने का किसीनें ढिंढोरा नहीं पीटा, इनकी गिनती किसीने गिनी नहीं। ये संख्या में इतनी अधिक हैं कि यदि इनका लेखा-जोखा भी हो तो उसका कोई पार न पा सके।

इनमें इतिहास के वे बिखरे कण विद्यमान हैं जिन्हें इतिहासकारों ने अब तक नहीं बटोरा। इनमें दर्शन के वे पक्ष मौजूद हैं जिनकी दर्शनशास्त्री भी व्याख्या नहीं कर सके। इनमें साहित्य के वे तत्त्व मौजूद हैं जो अबतक पंडितों की निगाहों से भी दूर रहे। इनमें जीवन के वे तत्त्व विद्यमान हैं जो धर्मग्रन्थों में ढूंढ़े भी नहीं मिलते। इनमें शब्दों के वे अनूठे प्रयोग एवं अर्थ मौजूद हैं जो साहित्यकारों की कल्पनाओं को भी नहीं छू सके। कल्पना की उड़ान तो इनमें आकाश-पाताल को तोड़कर असीम में पहुँच गई है। इनमें पशु-पक्षी बोलते हैं, मानवीय व्यवहार करते हैं, मानव को रास्ता बतलाते हैं, अनेक जीवनादर्श स्थापित करते हैं तथा मनुष्य को लोक-परलोक की सैर कराकर ऐसी दुनियाँ में पहुँचा देते हैं जहाँ मनुष्य पंख लगाकर उड़ते हैं, पहाड़ चलते हैं, नदियाँ बहती हैं, चट्टानें वाहन बनकर आकाश-पाताल की सैर करती हैं। दुष्टों के दमन एवं पापियों के विनाश के लिए हवाएँ आग उगलती हैं, पेड़ तीर चलाने लगते हैं, वर्षा आग बरसाती है, धरती फटती है, अच्छाई की बुराई पर

विजय होने पर स्वर्ग से सुमन बरसते हैं, विमानों से देवता उतरते हैं तथा सूखी सृष्टि हरियाने लगती है। ये सब बातें काल्पनिक अवश्य हैं परन्तु इनमें गूढ़ार्थ भरा रहता है।

## १६. लोकरचना का दर्जा :

लोकधर्मी रचनाओं में अपरिपक्वता का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। बहतेहुए निर्भर में जो भी गंदे नाले एवं मटमैले निर्भर मिलेंगे उनकी मिट्टी और गंदगी जबतक पेंदे में नहीं बैठेगी तबतक वे नदी के निर्मल जल में अपने आपको आत्मसात् नहीं कर सकेंगे। मटमैले जल को काच की तरह साफ़ होने तक जिस तरह कोई पान नहीं करता उसी तरह उस मटमैले कला-स्रोत को पूर्णरूप से परिमार्जित होने तक कोई स्वीकार नहीं करता। लोक-रचना का दर्जा प्राप्त करनेवाले लोकगीत, नृत्य एवं साहित्य के विविध लोकस्वरूप जमीन के गर्भ में छिपे हुए उस कोयले के समान हैं जो निरन्तर आँधी, पानी, गर्मी, ज्वालामुखी एवं अन्य भौगोलिक प्रक्रियाओं के फलस्वरूप अन्दर ही अन्दर क्रियान्वित होकर कालान्तर में चमकीले हीरे का रूप धारण करते हैं।

जिन देशों में इन प्रक्रियाओं को किन्हीं कारणों से दबा दिया जाता है या जहाँ उनके क्रियान्वित होने का वातावरण ही नहीं है वहाँ ये लोकरचनाएं अपने मूल स्रोत से ही मरणासन्न होजाती हैं। ये उस स्रोत के समान हैं जो रेतीली भूमि के गर्भ में दब जाते हैं और कभी भी प्रवाहित नहीं होते। इन सामाजिक एवं सांस्कृतिक कुण्ठाओंवाले देशों में कला के लिए उपजाऊ भूमि नहीं होती। यहाँ जो भी रचा जाता है वही सबको ग्राह्य होजाता है। उसका जीवन अत्यन्त अल्प होता है। उसमें सामाजिक प्रतिभा के कहीं दर्शन नहीं होते। ये रचनाएं नीरस एवं सारहीन होती हैं। लोकधर्म इन्हें स्वीकार नहीं करता। परन्तु उस अभावग्रस्त क्षेत्र में ये भी लोकधर्मी रचनाओं का दर्जा प्राप्त कर लेती हैं।

कोई भी वैयक्तिक रचना लोकधर्मी तत्त्व तबतक ग्रहण नहीं करती जब-तक वह समष्टि में सराबोर होकर सामाजिक प्रतिभा से चमत्कृत नहीं होती। यह प्रक्रिया भी लम्बी प्रक्रिया है और अनेक वर्षों के संघर्षण एवं सामुदायिक संचरण से लोकधर्मी स्वरूप प्राप्त करती है। यह व्यापक संचरण, गहन संघर्षण एवं वैयक्तिक रचना का समष्टीकरण स्वयं में एक ऐसी वैज्ञानिक प्रक्रिया है जो किसी भी रचना को सामाजिक अनुभूतियों की अग्नि में तपाकर सोने के समान चमत्कृत करती है।

## १७. लोकगीतों का दर्जा :

किसी भी गीत का वहुत अधिक प्रचलन तथा उसके बोधगम्य क्षेत्र का विस्तार ही उसे लोकगीत का दर्जा प्रदान नहीं करता। सूर, तुलसी, मीरां, कबीर आदि संतों के हजारों गीत सैकड़ों वर्षों से अपने साहित्यिक, सामाजिक तथा गेय गुणों के कारण समाज में प्रचलित हैं परन्तु फिर भी उन्हें लोकगीतों का दर्जा प्राप्त नहीं हुआ है। अतः लोकगीतों के क्रमिक विकास में जो प्रक्रिया निहित है वह कुछ और ही है। मोटे तौर पर हम इस संबंध में यह कह सकते हैं कि ऐसे गीत अनेक प्रतिभाओं के सम्मिश्रण से बनते हैं तथा उनसे प्रादुर्भूत लोकगीतों के स्वर तथा शब्द अनायास ही लोगों के मन पर असर कर जाते हैं और अज्ञात रूप से उनके स्वर-संगठन तथा शब्द-नियोजन में परिवर्तित होने लगता है। यह प्रक्रिया क्यों और किस क्रम से होती है इसका पता लगाना आसान नहीं है। ऐसे गीत अज्ञात रूप से ही लोगों के कंठों पर विराजते हैं तथा उनके मानस की क्रिया-प्रक्रियाओं के मुख्य विषय बन जाते हैं। गीतों के नियोजन-आयोजन से उनका कोई संबंध नहीं रहता। धीरे-धीरे उनका प्रभाव और प्रचार-क्षेत्र बढ़ता जाता है और लोग उन्हें अनायास ही गाने लगते हैं। उन्हें विधिवत् सिखलाया नहीं जाता। वे सामाजिक संतान की तरह अपने सामाजिक परिवार में खेलते, कूदते तथा विचरित होते रहते हैं। वे दीपक के प्रकाश की तरह फैल जाते हैं। प्रारम्भ में उस दीपक की लौ छोटी होती है परन्तु लोकजीवन की सशक्त अनुभूतियों के साथ समाज का सशक्त मस्तिष्क उनमें जीवन पूरता रहता है और उस दीपक की लौ अधिक प्रकाशमान और सशक्त होती जाती है। वे गीत स्वर-नियोजन, लयकारी, शब्द-चातुर्य तथा अर्थ-चमत्कार की पेचीदगियों से कोसों दूर हैं तथा स्वरों के मर्मस्पर्शी और शब्दों की अपूर्व व्यंजना-शक्ति के कारण अत्यन्त प्रभावशाली होते हैं। इन गीतों के मूल रचयिता की प्रतिभा में अनेकों सामाजिक प्रतिभाओं का सामंजस्य होता है जिससे वे सैकड़ों वर्षों के सतत प्रयोग से जनजीवन में घुलमिलकर लौकिक तत्त्वों से सराबोर होजाते हैं। इन तथ्यों के साथ दूसरा तथ्य और है जो इन गीतों को सैकड़ों वर्षों तक सजीव और सप्राणित रखता है, वह है उनके साथ प्रयोक्ताओं की ममता। सैकड़ों वर्षों के सतत प्रयोग तथा लगाव के कारण मनुष्य के दुःख-सुखों से जुड़ेहुए ये गीत उनकी ममता के साथ लिपट जाते हैं तथा विवाह-शादियों, पर्व-संस्कारों, पूजा-पाठों तथा उनकी अनुष्ठानिक क्रियाओं के साथ संस्कारवत् जुड़ जाने से ये गीत लम्बे समय तक जीवित रह जाते हैं।

लोकगीत अधिक पुराना पड़ने पर संस्कारवत् लोकजीवन से लिपटा रह जाता है तथा उसके शब्द अत्यन्त दुर्बल होजाते हैं। कहीं-कहीं तो शब्दों का पता ही नहीं लगता फिर भी वे गीत समाज की आत्मा बने हुए हैं और उनकी मधुर धुनों से जनता रसप्लावित होती रहती है। इसका कदापि यह मतलब नहीं कि लोकगीतों का साहित्यिक पक्ष उनका निरर्थक पक्ष है। साहित्य और संगीत के सुन्दर सामञ्जस्य से ही लोकगीत लोकगीत का दर्जा प्राप्त करता है। यदि सामञ्जस्य समाप्त होजाय तो लोकगीत समाज की सम्पत्ति नहीं रहकर कुछ ही पेशेवर लोगों की संपत्ति बन जायेंगे। लोकगीतों को उनका साहित्यिक पक्ष ताकत प्रदान करता है तथा उन्हें दीर्घजीवी बनाता है। परन्तु वह उसका शरीर है, उसकी आत्मा नहीं। शरीर मरने से आत्मा नहीं मरती परन्तु आत्मा नहीं रहने से शरीर नष्ट होजाता है। जिस लोकगीत का केवल शब्दपक्ष रह जाता है और उसका स्वरपक्ष दुर्बल होजाता है या उसके प्रयोक्ताओं द्वारा दुर्बल कर दिया जाता है तो वह गीत मृतगीत के बराबर ही रह जाता है। ऐसे गीतों में वे गीत शुमार होते हैं जो पेशेवर जातियों द्वारा अपने आश्रयदाताओं तथा देवी-देवताओं के गुणगान में प्रयुक्त होते हैं। उनमें जातियों के वंशानुक्रम तथा उनकी नामावलियों की प्रधानता रहती है और उनके गेय तत्त्व कम होजाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि ये गीत इन जातियों के पास ही रह जाते हैं तथा जन-जीवन से दूर होते चले जाते हैं।

## १८. लोकसंगीत और शास्त्रीय संगीत :

अब पूर्णरूप से सिद्ध होगया है कि लोकसंगीत शास्त्रीय संगीत का अविकसित रूप नहीं है और न शास्त्रीय संगीत ही लोकसंगीत का विकसित रूप है। दोनों ही स्वरूप एकसाथ अंकुरित और विकसित होते हैं और दोनों ही एक दूसरे से प्रेरणा प्राप्त करते रहते हैं। मोटे रूप में लोकसंगीत संगीत का लोकपक्ष है और शास्त्रीय संगीत उसका वह पक्ष है जो व्यक्ति-विशिष्ट की प्रतिभा के अनुसार विशिष्ट शास्त्र में बँध गया है। इसमें एक अनोखी बात यह है कि लोकसंगीत कभी भी शास्त्रीय पक्ष को प्राप्त नहीं करता और न शास्त्रीय संगीत ही लोकपक्ष को प्राप्त होता है। शास्त्रीय गीत को सुगम कर देने से तथा उसे तान, पलटे, मुरकियाँ तथा स्वर संबंधी रचनात्मक पेचीदगियाँ हटाकर गा लेने से ही वह लोकगीत नहीं बन जाता। न लोकगीत को ताल, स्वर तथा तान-पलटों की पेचीदगियों में बाँध देने से ही शास्त्रीय बनाया जा सकता है।

संगीत के ये दोनों ही पक्ष अनादिकाल से एक दूसरे के समकक्ष चलते आए हैं तथा एक दूसरे से प्रेरणा ग्रहण करते रहे हैं। वैदिककालीन संगीत के श्रवण से यह प्रतीत हो सकता है कि उस समय लोक और शास्त्रीय संगीत में कोई भेद नहीं था। भेद तो तब हुआ जब समाज के सांस्कृतिक तथा सामाजिक स्तरों में भेद होने लगा। जनमानस ने संगीत की एक पद्धति अपनाई और संगीत के विशिष्ट प्रेमियों ने दूसरी शैली को अपनाया। धीरे-धीरे यह भेद बढ़ता ही गया। इसका अर्थ यह भी नहीं कि सामाजिक स्तर के उतार-चढ़ाव के अनुसार ही शास्त्रीय संगीत और लोकसंगीत की प्रतिभा घटती-बढ़ती है। यदि यह कथन सत्य मान लिया जाय कि शास्त्रीय संगीत बुद्धिजीवियों, विद्वानों तथा विशिष्ट सामाजिक स्तर के लोगों का है और लोकसंगीत अशिक्षित, असभ्य, असंस्कृत तथा निर्धन जनों की धरोहर है तो आज का समस्त धनिक और विद्वद्वर्ग शास्त्रीय संगीत का ही प्रेमी तथा अनुमोदक होता और निर्धन, अशिक्षित और असभ्य लोग लोकसंगीत के पूर्ण ज्ञाता समझे जाते। आज से पच्चीस वर्ष पूर्व उत्तरी भारत के अनेक शास्त्रीय संगीतकार अशिक्षित थे और आज के अधिकांश शिक्षित और विद्वान् लोग शास्त्रीय संगीत से उतने ही अनभिज्ञ हैं। अतः शास्त्रीय और लोकसंगीत के अपनाव में समाज की विशिष्ट सांस्कृतिक और शैक्षणिक स्थितियाँ उत्तरदायी नहीं हैं।

## १६. गीत और गायक जाति :

मेहनत के साथ जो गीत जुड़ेहुए हैं उनमें भी एक ध्वनिगत विशेषता रहती है। ये बहुधा वे ही प्रचलित गीत होते हैं जो विविध प्रसंगों पर गाये जाते हैं परन्तु श्रम के विविध प्रकारों की शारीरिक हरकतों के साथ उनके स्वरों में भी एक विशिष्ट हरकत पैदा होती है। सड़क कूटनेवाले, छत दबानेवाले तथा वजन उठाकर ढोनेवाले लोग अपनी श्रमसाध्य थकान को दूर करने के लिए गीत गाते हैं। श्रम के विशिष्ट धक्कों को वे अपने गीत की धुन और लय में भी विशिष्ट धक्के लगाते चलते हैं।

पेशेवर लोकगायकों की कुछ जातियाँ ऐसी भी होती हैं जिनकी आवाजें संस्कारवत् ही पतली, मोटी तथा सुरीली होती हैं। उन्हें अपनी आवाजों को तैयार करने की आवश्यकता नहीं रहती। वे जन्म से ही गाने लगते हैं तथा उनके गले स्वभाव से ही सुरीले होते हैं। कुछ जातियाँ ऐसी होती हैं जिनका स्वर-संचरण खरज के स्वरों में अच्छा होता है, टीप के स्वरों में प्रभावशाली

नहीं होता। उनकी आवाज का खरजपक्ष अत्यन्त सशक्त, सुरीला और गंभीर होता है। उनका श्रव्यपक्ष भी टीप पर गाएहुए गीतों की तरह ही प्रभावशाली होता है। इन जातियों में आदिमजातियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। राजस्थान की कंजर, सांसी, कालवेलिया, भोपा तथा नट आदि जातियों की स्त्रियों के गायन में भी एक विचित्रता रहती है। वे अपनी आवाजों में विशेष प्रकार का मरोड़ देती हैं। वे प्रत्येक गीत की पंक्ति के अंतिम शब्द को मरोड़कर गाती हैं और पुनः ताल ही के साथ मूलधुन को पकड़ लेती हैं। प्रचलित सभी लोकगीतों को वे इसी तरह गाती हैं। इन जातियों द्वारा गाएहुए सभी प्रचलित गीतों पर गायकी की दृष्टि से इन जातियों की विशेष छाप रहती है।

## २०. लोकभजन :

लोकभजनों की आयु लोकगीतों की अपेक्षा अल्प होती है। आनन्द और उल्लास की व्यंजनाएँ स्थायी, सुखकारी और अधिक प्रभावशाली होती हैं। वे मर्म को सर्वाधिक छूती हैं। मनुष्य उनके प्रवाह में वहकर नाना प्रकार के रागात्मक और भावात्मक जाल गूँथता रहता है और सम्पूर्ण व्यक्तित्व को उनमें अभिव्यक्त करता है। उसे एक सृजनात्मक आनंद उपलब्ध होता है। वह अपने दुख में भी सुख का अनुभव करता है तथा भावलोक में अभिव्यंजित होकर वह अपने आपको पूर्ण वैभवशाली अनुभव करने लगता है। उसकी भावनाएँ व्यापक और सम्पन्न होती हैं। उनमें गहराई आती है और उनके जीवन का परिष्कार होने लगता है। इन्हीं भावात्मक परिस्थितियों के परिणाम लोकगीत होते हैं। वे आनन्द और उल्लास के प्रतिनिधि होने के कारण समाज की सृजनात्मक शक्तियों के लिए खुराक होते हैं। वे जितने ही पुराने पड़ते जाते हैं उनमें समाज की अभिव्यंजनाएँ मिलकर गंभीरता और स्थायित्व के तत्त्व बढ़ते रहते हैं परन्तु भजनों की आयु अल्प और उनका प्रभाव तात्कालिक होता है। जिस तीव्र गति से वे वनते हैं उतनी ही तीव्र गति से वे मिटते भी हैं।

मनुष्य आनंद की अभिव्यक्ति चाहता है। विषाद विवशता से आता है। आनन्द स्वाभाविक प्रवृत्ति है। साधारणतः आनन्द की चाह विषाद को दूर रखती है, पास नहीं फटकने देती परन्तु जब उसकी पराकाष्ठा होती है तो आनन्द को विषाद के सामने दव जाना पड़ता है। विषाद उस पर हावी हो जाता है। उसकी विवशता और अभावग्रस्त स्थिति में भजनों का आविर्भाव होता है। मनुष्य की अभिव्यंजनाएँ कुण्ठित हो जाती हैं। रूखे-सूखे और मर्यादित स्वर तथा शब्दों में भजनों की सृष्टि होती है। यही कारण है कि भजनों में भावों की

बारीकी, कल्पना की उड़ान तथा स्वरों की रंजकता नहीं होती। सीधी और सरल व्यंजनाओं में याचना, आत्मनिवेदन तथा मानसिक घुटन के कारण जीवन से मुक्ति की भावना प्रमुख रहती है। ये गीत जब किन्हीं देवी-देवताओं, संस्कारों तथा अंधविश्वासों और अंधपरंपराओं के साथ जुड़ जाते हैं तो वे स्थायी अवश्य होजाते हैं परन्तु उनमें गीतों के गुण नहीं होते। उनमें केवल लकीर ही पीटी जाती है। ऐसे लोकभजन बहुधा अशिक्षित और पिछड़ेहुए समाज में ही अधिक प्रचलित होते हैं इसलिए उनका घुमाव-फिराव उन्हीं में हुआ करता है। अनुभवशील, परिमार्जित तथा भावनाशील समाज के पास वे नहीं जाते। इसलिए उनमें अनुरंजकता और व्यापकता के गुण प्राय: नहीं होते। गंभीर और सुसंस्कृत समाज अपने अभावों और विषादों को धैर्य और पुरुषार्थ से झेलता है और उन्हें आनन्द और उल्लास से परिमार्जित कर देता है। वह उन पर रोता नहीं। परास्त नहीं होता। संकीर्ण, क्षुद्र आवेगों से द्रवीभूत होकर क्षुद्र व्यंजनाओं में प्रकट नहीं होता। अत: ऐसे समुदाय के पास भजन प्राय: फटकते ही नहीं।

## २१. लोकनृत्य और शास्त्रीय नृत्य :

लोकसंगीत की तरह ही शास्त्रीय नृत्य का प्रादुर्भाव भी लोकनृत्य से ही हुआ। जिस तरह लोकसंगीत की मूल स्वर-रचनाओं से राग-रागिनियों की प्रेरणा लेकर कुछ आचार्यों ने शास्त्रीय संगीत की सृष्टि की, उसी तरह लोकनृत्यों की मूल आंगिक-मुद्राओं तथा भाव-मुद्राओं से प्रेरणा लेकर कुछ आचार्यों ने शास्त्रीय नृत्य को जन्म दिया। शास्त्रीय नृत्य लोकनृत्य के विकसित रूप की तरह सम्मुख नहीं आया और न लोकनृत्य ही उसका अविकसित रूप बना। दोनों ने ही अपनी पृथक्-पृथक् दिशाएं ग्रहण कीं। शास्त्रीय नृत्य ने अपनी प्रेरणाएँ लोकनृत्यों से प्राप्त करके अपना विकास-क्षेत्र अलग ही बनाया परन्तु लोकनृत्य का विकसित स्वरूप बनने का दंभ उसने कभी नहीं भरा। इस विशिष्ट लोकशैली के नृत्य को स्थान, समय तथा स्थिति के अनुसार शास्त्रकारों ने अनेक नियमों-उपनियमों से बाँध दिया। पद-संचालन की अनेक कठिन कल्पनाएँ इसमें साकार हुई। अंग-भंगिमाओं तथा मुखाकृतियों में अभिव्यक्त नाना प्रकार की भाव-मुद्राओं का एक अत्यंत उलझाहुआ स्वरूप सामने आया। इन्हीं नाना प्रकार की विधाओं को लेकर शास्त्रकारों ने अनेक शास्त्र लिख डाले जिनमें भरतमुनि कृत भरतनाट्य सर्वोपरि है। इसमें नृत्य तथा नाट्य के नाना स्वरूपों का निरूपण हुआ है।

नृत्य के साथ जुड़ेहुए इस विशद शास्त्र के पीछे लोकनृत्य ही की प्रेरणा स्पष्ट परिलक्षित होती है। वह सामाजिक धरोहर के रूप में विकसित हुआ

है। लोकगीतों की तरह ही एक अत्यंत परिपुष्ट परम्परा के रूप में उसका एक अलिखित शास्त्र है जो समाज के बौद्धिक तथा भावात्मक स्तर के अनुरूप ही अविकसित, विकसित, अतिविकसित तथा अतिसंस्कृत लोकनृत्यों की परम्परा के रूप में आज भी जीवित है। जबतक मनुष्य का भावात्मक एवं लौकिक पक्ष अक्षुण्ण बना रहेगा तबतक लोकनृत्यों का यह विकासक्रम भी निश्चित परम्पराओं से बँधता चला जायेगा। शास्त्रीय नृत्य विशिष्ट कला-आचार्यों की उपज है तथा समाज के विशिष्ट बौद्धिक स्तर पर निर्भर रहता है। स्थान, समय तथा प्रयोक्ताओं की विशिष्ट कल्पनाओं के साथ उसका विकास जुड़ा रहता है। भारतीय लोकनृत्य जिस तरह सामाजिक भावना, सामुदायिक आनन्द तथा सांस्कृतिक प्रसंगों से जुड़े रहते हैं तथा जिस तरह उन पर समष्टिगत अभिव्यक्ति की छाप अंकित रहती है, ठीक विपरीत उसके शास्त्रीय नृत्य वैयक्तिक आधार पर सृजित तथा विकसित होते हैं। व्यक्ति ही उसे चरम सीमा तक पहुँचाता है तथा उसकी प्रतिभा का ही उसमें अंकन होता है। शास्त्रीय नृत्य शास्त्रोक्त नियमों के अनुसार रचे जाते है जबकि लोकनृत्य स्वनिर्मित होते हैं तथा सामूहिक भावनाओं के अनुरूप ही उनका रूप निर्धारित होता है।

## २२. लोकनाट्य :

किसी भी लोकनाट्य का कोई विशिष्ट रचयिता नहीं होता। वह समस्त समाज की अभिव्यक्ति का प्रतीक तथा अनेक प्रतिभाओं के सम्मिलित चमत्कार का एक साकार रूप होता है। उसमें जनजीवन की भावनाओं तथा उपलब्धियों की प्रतिच्छाया होती है तथा नाटक की सफलता-असफलता का भागीदार समस्त समाज होता है।

आज हमारे देश में जो विविध क्षेत्रीय नाट्य उपलब्ध होते हैं उनमें अधिकांश तो ऐसे हैं जो विशिष्ट लेखकों की देन हैं और जिन्हें लोकनाट्यों की संज्ञा अवश्य दी जाती है परन्तु वास्तव में वे उस श्रेणी में नहीं आते हैं। लोकगीतों की तरह लोकनाट्यों के स्वाभाविक सृजन की प्रक्रिया इतनी सहज और सरल नहीं है। लोकगीत एक व्यक्ति की प्रतिभा की उपज है जो बाद में अनेक सामाजिक प्रतिभाओं के सम्मिश्रण से लोकगीतों का दर्जा प्राप्त करता है परन्तु नाट्य प्रारंभ से ही किसी भी व्यक्ति-विशेष की उपज नहीं हो सकता। उसका प्रारंभ ही सामाजिक प्रतिभा की उपज है। गीत की तरह उसकी उत्पत्ति व्यक्ति से नहीं होकर समष्टि से होती है।

समष्टिगत सृजन एक अत्यंत जटिल और उलझीहुई प्रक्रिया है। समाज जिन धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक भावनाओं से आक्रान्त रहता है उनकी गहरी छाप सामाजिक मानस पर अंकित होजाती है और मनुष्य के जीवन का प्रत्येक पक्ष उनसे ओतप्रोत रहता है। यदि वह सामाजिक भावना प्रबल धार्मिक चेतना के रूप में प्रकट होती है और उसका लगाव किसी महान् धार्मिक व्यक्तित्व से है जो समाज का धार्मिक नेतृत्व ग्रहण कर लेता है तो समस्त समाज उस व्यक्तित्व से अत्यधिक प्रभावित होता है। उसके अवसान के बाद भी उसका यह लौकिक व्यक्तित्व आध्यात्मिक व्यक्तित्व बन जाता है। जनता उसे अपनी अटूट श्रद्धा और भक्ति का पात्र बना लेती है; उसकी गुण-गाथाएँ गाने लगती है तथा उसकी स्मृति में पर्व, समारोह मनाती है; उसके व्यक्तित्व के संबंध में गीत रचती है, स्मारक बनाती है, पूजा-अर्चना करती है। अर्चन, स्मरण के ये ही विविध साधन अनुकृतिमूलक बनकर विशाल जनसमूह के बीच नर्तन, गायन तथा कथा-प्रवचन के रूप ले लेते हैं। शनैः शनैः ये ही गीत, प्रवचन, भजन कथोपकथन आदि उस व्यक्ति-विशेष के जीवन संबंधी प्रसंगों की झाँकियों का स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं। गेय बोल को गायक स्वर देता है। स्वाँगों तथा अनुकृतिमूलक झाँकियों को भाषाकार संवाद प्रदान करता है। विविध क्रिया-मूलक प्रसंगों को नर्तक पदचापों में बाँधकर क्रियाशील बनाता है तथा झाँकीकार की कल्पना को सामाजिक मस्तिष्क रंगमंच पर प्रस्तुत करता है।

## २३. लोकनाट्य – प्रदर्शन, सृजन और संवर्द्धन :

लोकनाट्यों का सृजन सर्वदा ही एक प्रबल सामाजिक प्रक्रिया है। किसी विशिष्ट सामुदायिक प्रसंग पर उनका अभिनय होता है। अनेक सामाजिक प्रतिभाएँ उनका मिलकर प्रदर्शन करती हैं। उनके लिए विशिष्ट रंगमंच बनाया जाता है तथा प्रदर्शन संबंधी सभी सामग्रियाँ जुटाई जाती हैं। अभिनेता अपनी पोशाकें स्वयं लाते हैं। संगीतकार अपना सार्वजनिक कर्तव्य निभाने के लिए साजों के साथ अपनी सेवाएँ देते हैं। गाँव का रंगरेज निःशुल्क पोशाकें रंग देता है। दर्जी निःशुल्क कपड़े सींता है। रोशनीवाला नाई निःशुल्क रोशनी का प्रबंध करता है। गाँव का हलवाई अपनी तरफ से निःशुल्क जलपान का आयोजन करता है। गाँव का खाती रंगमंच बनाने में अपनी निःशुल्क सेवाएँ प्रदान करता है। गाँव का भंगी, भिश्ती आदि भी सफाई तथा छिड़काव में किसी से पीछे नहीं रहता। सामाजिक स्तर पर इन नाटकों का प्रदर्शन होता है। इसलिए सभी कलाकार खुलकर अपना प्रदर्शन करते हैं और उनकी अभिनयात्मक

दुर्बलता की ओर कोई भी ध्यान नहीं देता। यदि कोई अभिनेता गाने में कमजोर है तो दर्शक तुरंत गाकर उसकी कमजोरी को छिपा देते हैं। यदि किसी नृत्यकार की नृत्य-अदायगी ठीक नहीं है तो दर्शकों में से कोई प्रवीण कलाकार रंगमंच पर चढ़कर उसकी कमी को पूरा कर देता है। इस तरह नाटक के समस्त गुण-दोष जनता के गुण-दोष वन जाते हैं और दर्शक-प्रदर्शकों के वीच एक भारी सहानुभूति का वातावरण परिलक्षित होता है।

लोकनाट्य प्रचलित जीवन-व्यवहार तथा जीवनादर्शों के प्रतीक होते हैं। सामाजिक चिन्तन, आचार-विचार, रीति-नीति, निष्ठा तथा पारंपरिक विश्वास लोकनाट्यों में अत्यंत छद्मरूप में प्रकट होते हैं। नाट्य के कथानक, उनकी घटनाएँ, प्रसंग, पात्र आदि कितने ही प्राचीन क्यों न हों, जीवन-व्यवहार की दृष्टि से वे सोलह आना आधुनिक हैं क्योंकि वे किसी शास्त्र, विशिष्ट परम्परा तथा परिपाटी का अनुशीलन नहीं करते। अत: परम्परा-प्रतिपादन की उनसे आशा भी नहीं रखी जा सकती। उनके संवाद-गीत अत्यंत पुरातन होतेहुए भी नवीन इसलिए हैं कि उनका प्रवाह गंगा की तरह पावन तथा निर्मल है। गंगा सहस्रों वर्षों से इस पावन धरती पर वहरही है परन्तु प्रतिपल उसमें नवीन जल का संचार होरहा है। इसी तरह जो गीत-संवाद परम्परा से प्रचलित हैं उनमें प्रतिपल परिवर्तन होरहा है और चिरनवीन सामाजिक प्रतिभा का चमत्कार उन्हें चमत्कृत कर रहा है। पारम्परिक आदर्श, कथानक, विचारधारा तथा जीवन-व्यवहार का निभाव उनमें विल्कुल आवश्यक नहीं है। मौलिक आदर्श और मूलभूत व्यवहार की विशेषताओं का निभाव तो होता है परन्तु उनको आधुनिक जीवन में ढालने की प्रवृत्ति इन नाट्यों में वरावर वनी रहती है।

## २४. लोकसांस्कृतिक इतिहास और हमारा दायित्व :

बुद्धिजीवियों की रचनाएँ तो लिख ली गई हैं परन्तु कला की उन सव विधाओं का क्या होगा जो बुद्धिजीवियों के पास न होकर ऐसे लोगों के पास हैं जो अनुभवी होतेहुए भी लिखना-पढ़ना नहीं जानते। लय-ताल के जानकार अपनी अनुभूतियों को स्वर-ताल एवं शब्दों में पिरोते हैं। उन्हें शास्त्र का ज्ञान नहीं है परन्तु वे अन्त:प्रेरणा के धनी हैं। उन्होंने विश्वास और आस्था के बल पर अनेक कृतियाँ जनजीवन को प्रदान की हैं, जिनके कंठों पर अनेक गीत वाढ़ की तरह नित्यप्रति उमड़ रहे हैं; जिनके हाथ-पाँव नृत्यमयी मुद्राओं से थिरकते रहते हैं; जिन्हें कण्ठ-दर-कण्ठ ऐसी सामग्री उपलब्ध हुई है जिसका भण्डार कभी खूटता नहीं; जिन्होंने रंगमंच के ऐसे करिश्मे देखे और किये कि उनकी

सानी आज कोई नहीं है; जिनको जीवन की ऐसी-ऐसी घटनाएँ याद हैं जो यदि लेखवद्ध करली जायँ तो समाज का इतिहास ही पुनः लिखना पड़े; जिनकी कारीगरी के असंख्य नमूने आज प्रकाश के अभाव में धूमिल होरहे हैं; जिन्हें आज चतुराई से बोलना नहीं आता, समाज में घुलमिलना नहीं आता, अच्छे-अच्छे कपड़े पहिनकर शेखी बघारना नहीं आता; जो अपने सीमित जीवन ही में संतोष धारण किएहुए हैं; जिनकी उम्र इतनी पक चुकी है कि उनकी स्मृतियाँ भी कमजोर होरही हैं। कुछ कलाविद् तो ऐसे हैं जिनका एक पाँव तो संसार में है और दूसरा श्मशान में। अस्सी-पिच्चासी वर्ष की आयु के लोग हैं जिनके पास अतीत की वह थाती है जो आज की पीढ़ी के पास नहीं हैं। तेजी से वदलनेवाला जमाना उन्हें धूलिधूसरित कर रहा है। अगर यह पीढ़ी खत्म होगई तो हम अपने सौ-डेढ़ सौ वर्ष की लोकधर्मी परम्परा की उन कड़ियों को खो बैठेंगे जिनके विना हमारा लोकसंस्कृति का इतिहास अधूरा है। ■

# परिशिष्ट

## (१) सामरजी रचित साहित्य

★ नाटक (१९३८-५२)

नाटक : राजस्थान का भीष्म, आत्मा की खोज

एकांकी संग्रह : चन्द्रलोक, मृत्यु के उपरान्त

एकांकी : बापू

अप्रकाशित –

नाटक : वलिदान, महान् वलिदान, दलित कन्या उर्फ सागरकन्या

एकांकी : सुदोषी, सविता, उपन्यास का परिच्छेद, पोखर, मोटरगेरिज

★ कहानी (१९२८-३५)

अप्रकाशित – तिरस्कृत, अनुचित अधिकार, कायापलट, झिड़कन, विधवा, विवाह के पूर्व, निराशा, चित्रकार अमर, वापा, पतिता, माधव, निष्कासन, निर्झर, कल्याणी, सफल आलाप, पोखर, भेड़वाले, कावुली कवूतर, श्यामा, डगमग डोले नैया, चिरमिलन, समर्पण, वाल्यवन्धु, बाँसुरी की तान, विवाह, पूनों की रात।

★ उपन्यास (१९३५)

अप्रकाशित – पूनों की रात (अधूरा)

★ कठपुतली नाटक (१९६५-७०)

अप्रकाशित – रामायण, संगठन में वल, लंगोटी की माया, सदा वहार, सोहवत का असर, चतुर मेढ़क, पचफूला, दो दोस्त, आओ पढ़ने चलें, पतरा, किरायेदार, हमारा देश एक है, सुजाता।

★ गद्यगीत (१९३६-४६,६७)

प्रकाशित – अन्तर्मन (१९६७)

अप्रकाशित – लगभग पांच सौ गद्यगीत तथा कई अनुपलव्ध।

★ **कविता** (१९३५-४६)

अप्रकाशित – पारिजात (सौ गीत-संग्रह) लगभग डेढ़ सौ गीत तथा कई अनुपलब्ध ।

★ **लोकसांस्कृतिक** (१९५२-७०)

प्रकाशित – राजस्थान के लोकानुरंजन, राजस्थानी लोकनाट्य, राजस्थानी लोकनृत्य, राजस्थान का लोकसंगीत, भारतीय लोकनृत्य, कठपुतली कला और समस्याएँ, लोकधर्मी प्रदर्शनकारी कलाएँ, कठपुतलियाँ और मानसिक रोगोपचार ।

★ **ललितकला** (१९५२)

प्रकाशित – भारतीय ललितकलाएँ

★ **सम्पादित** (१९५४-६७)

प्रकाशित – लोककला निवंधावली (चार भाग), राजस्थान के भवाई, राजस्थान के रावल ।

## २. पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित सामर-साहित्य

दैनिक :

★ **अर्जुन, नई दिल्ली** (१९३६–३७)

(१) गद्यगीत; ६ जुलाई ३६ (२) यात्रा; १७ अगस्त ३६ (३) तुम कुछ पहचाने से लगते हो; २३ नवम्बर ३६ (४) गद्यगीत; ११ जनवरी ३७ (५) गद्यगीत; १ मार्च ३७

गद्यगीत :

★ **आर्यावर्त, पटना** (१९४५–४७)

(१) गीत; (प्रभाती)–(जागो साथी हुआ सवेरा) ८ मार्च ४५ (२) गीत; (मन, प्रियतम की दीपशिखा बन) १६ अप्रेल ४५ (३) सांध्यगीत; (संझा ने निज मृदु हाथों से प्रिय के चरण सजाये) १८ जुलाई ४७ (४) गीत; (नभ ने नीर बहाये) (५) सखी अब घिर आए घनश्याम आज कब आवेंगे घनश्याम; (६) गीत; (निश्चय नयनों से बरसेंगे उर के चिरसंचित उद्गार) (७) गीत; (दीपक मैं प्रिय का बन जाऊँ) (८) गीत; (सहज चल पड़ा आज उस ओर जहां मिलता है नभ का छोर) (९) गीत; (बज रहे वे साज कैसे उठ रहे पद आज जिन पर) (१०) गीत;

(मैं न अमरता लेकर आया) (११) गीत; (आरती के दीप में प्रिय स्नेह मेरा जल रहा है) (१२) गीत; (कौन गाफिल सो रहा है) (१३) प्रभात गीत; (जागो हुआ विहान) (१४) गीत; (बादल बन नभ पर मंडराऊँ)।

★ **नवभारत, नागपुर (१९३८)**

(१) यथार्थ संगीत; (गद्यगीत) ३० अप्रेल।

★ **राजस्थान पत्रिका, जयपुर (१९६८)**

(१) राजस्थान में कठपुतलीकारों की दयनीय स्थिति; ७ अगस्त।

(२) राजस्थान में संगीत और नाटकों का विकास; २३ अगस्त।

★ **राष्ट्रदूत, जयपुर (१९६९)**

(१) भारतीय नृत्यदल का विदेश भ्रमण; दिवाली विशेषांक।

★ **रियासती, जोधपुर (१९३९)**

(१) चलते रहना है; (कविता) ८ नवम्बर।

★ **हिन्दुस्तान, नई दिल्ली (१९४५-६९)**

(१) गीत; (मैं दीवानों की दुनियां का एक बड़ा दीवाना हूँ) २९ जुलाई ४५ (२) आधुनिक भारतीय रंगमंच; जुलाई ५० (३) भारतवर्ष के खुले रंगमंच; १६ अप्रेल ६१ (४) भारतीय लोककला मंडल का संग्रहालय; २३ जनवरी ६९।

साप्ताहिक :

★ **कर्मवीर, खण्डवा (१९३६-३७)**

(१) गद्यगीत; १८ जनवरी ३६ (२) गद्यगीत; फरवरी ३६ (३) गद्यगीत; २२ फरवरी ३६ (४) जीवन संगीत; ४ जुलाई ३६ (५) नयननीर; २५ जुलाई ३६ (६) आज मधु बेला है; १९ दिसम्बर ३६ (७) माँ, मुझे रोने की शक्ति दे; २७ फरवरी, ३७ (८) हमारी पीर जानी; ६ मार्च ३७ (९) निर्माण; २४ अप्रेल ३७ (१०) यात्रा; ८ मई ३७ (११) सृष्टि और प्रलय; (१२) मैं आता हूँ! मैं आता हूँ!! (१३) गद्यगीत; (१४) उषा। (गद्यगीत)।

★ **गणराज्य, जयपुर (१९६०)**

(१) जीवन और कला; २७ जुलाई।

★ जनपथ, कलकत्ता (१९४९)

(१) गीत; (वरसो रे! उमड़ घुमड़ घन), ८ सितम्बर ४९ (२) गीत; (स्वर्ग के पथ पर विचर कर, आज मानव इधर आया), कांग्रेस अंक। (३) गीत; (निशि दिन वीन वजाऊँ)।

★ तरुण, कलकत्ता (१९४९)

(१) गीत; (मन की मौज छिपाता क्यों है?), अक्टूवर १९४९।

★ धर्मयुग, वम्वई (१९६२–७०)

(१) कावड़ राजस्थान की; २२ जुलाई ६२ (२) राजस्थान की मांगलिक भित्ति चित्रकला; २ दिसम्वर ६२ (३) राजस्थान की कच्छीघोड़ियाँ; २० अक्टूवर ६४ (४) उदयपुर के मांगलिक हस्तकौशल; २० मार्च ६६ (५) म्हारी घूमर छै नखराळी हे मां, गोरी घूमर रमवा म्हे जास्यां; ५ अप्रेल ७०।

★ नवजीवन, उदयपुर (१९४०–६०)

(१) वढ़े चलो; (कविता), १२ अगस्त ४० (२) भारतीय लोककलाओं में एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग, २ अक्टूवर ५२ (३) मेरी यूरोप यात्रा के कुछ संस्मरण; १९ दिसम्वर ६० (४) राजस्थानी लोकगीतों की परंपराएँ।

★ नव राजस्थान, नागपुर (१९३७)

(१) तुम मेरे अंतर में जागे; (गद्यगीत), १९ मार्च (२) तू किसका संदेश लाया है? (गद्यगीत), १७ अप्रेल (३) जागो पथिक, जागो; (गद्यगीत), २४ जुलाई (४) पंछी वह नभ का एकाकी; (गीत), (५) दीपोत्सव; (गद्यगीत), (६) ए गायक! गा दे मधुर गान। (गीत), (७) दीप-निर्वाण (गद्यगीत)।

★ पन्द्रह अगस्त, उदयपुर (१९५०)

(१) आओ कदम वढ़ाएँ; (गीत)।

★ प्रजासेवक, जोधपुर (१९६९)

(१) राजाओं व जागीरदारों ने कलाकारों को याचक वना दिया; दीपावली विशेषांक।

★ योगी, पटना (१९४३)

(१) जवानों की वस्ती; (कविता), मई।

★ वसुंधरा, उदयपुर (१९४८)

(१) आज निकट उड़ने की वेला पंछी वंधन खोल; (गीत), १४ फरवरी।

* विशाल राजस्थान, कलकत्ता (१९६० – ६१)

(१) कला का नवीन दृष्टिकोण; दिसम्बर ६० (२) कठपुतलियों का अन्तर्राष्ट्रीय समारोह; दिसम्बर ६० (३) राजस्थानी लोकनृत्यों की सामाजिक पृष्ठभूमि; गणतंत्र विशेषांक, ६१ (४) राजस्थानी रजवाड़ों की सांस्कृतिक परंपराएँ।

* साप्ताहिक हिन्दुस्तान, नई दिल्ली (१९६९)

(१) ट्यूनिशिया का अन्तर्राष्ट्रीय लोकनृत्य समारोह और भारत; २६ अक्टूबर ६९ (२) राजस्थान की कठपुतलियाँ।

पाक्षिक :

* नया समाज, कलकत्ता (१९४९)

(१) कला में युगान्तर (२) कला का समाजीकरण (३) राजस्थानी लोकनाट्य (४) लोकनृत्य और जन-संस्कृति।

मासिक :

* आजकल, नई दिल्ली (१९४६ – ७०)

(१) अश्रुओं से चरण धोऊँ; (गीत), दिसम्बर ४६ (२) ट्यूनिशिया का पांचवाँ अन्तर्राष्ट्रीय लोकनृत्य समारोह, जून ७०।

* बिजली

(१) दो गद्यगीत; (२) आरती के दीप में प्रिय स्नेह मेरा जल रहा है; (गीत) (३) बनेंगे अश्रु अब अंगार; (गीत) (४) दो गद्यगीत; (५) इस पार कहाँ जो ढूँढ़ रहा उस पार खड़े तेरे प्रियतम; (गीत) (६) कौन ? (कविता) (७) प्रिये ! तुम्हारे विमल हास का मुझको यह उपहार मिला, (गीत)।

* चाँद, लखनऊ (१९३६)

(१) बिछोह और मिलन (गद्यगीत)।

* नागरिकता, उदयपुर

(१) राजस्थानी लोककलाओं का विकास।

* मधुमती, उदयपुर (१९६५ – ६९)

(१) राजस्थान की विशिष्ट कठपुतली नाट्यशैली, वर्ष ४, अंक ४, (२) लोकप्रिय गीत एवं लोकगीत, वर्ष ४, अंक १०, (३) बदरंग हुई

आदिम जातियों की रंगीनियाँ, वर्ष १२, अंक ५ (४) लोककलाओं में प्रतीकवाद, वर्ष ८, अंक १ (५) मेवाड़ी वागड़ी लोकसंस्कृति।

★ **रंगायन, उदयपुर (१९६७–७०)**

(१) कला का नवीन दृष्टिकोण; अंक २ (२) जीवन के सांस्कृतिक पक्षों की सुरक्षा; अंक ३ (३) लोकरंगमंच; अंक ५ (४) पारंपरिक प्रदर्शनकारी कलाओं में प्राण-स्फुरण का प्रश्न; अंक ६ (५) शेखावाटी का सांस्कृतिक वैभव; अंक ७ (६) वर्तमान परिस्थितियों में सांस्कृतिक संस्थाओं का योग; अंक ८ (७) शिक्षालयों में सामुदायिक नृत्यगीतों का प्रशिक्षण; अंक ९ (८) शास्त्रीय संगीत की समस्याएँ; अंक १० (९) चिड़ावा शैली के ख्याल; अंक ११ (१०) लोकानुरंजन और स्वस्थ मनोरंजन; अंक १४ (११) सामूहिक नृत्यों द्वारा सांस्कृतिक आदान-प्रदान; अंक १६ (१२) नाटक में एक नवीन प्रयोग; अंक १७ (१३) राष्ट्रीय एकता का सांस्कृतिक पक्ष; अंक १८ (१४) लोकसंपदा की सांस्कृतिक उपलब्धियाँ; अंक १९ (१५)लोकधर्मी कलाओं का संरक्षण; अंक २०(१६) लोकनाट्य और उनका लोकमंचीय उन्नयन; अंक २१ (१७) राजस्थानी लोकगीतों की गायकी; अंक २२ (१८) गींदड़ नृत्य परम्परा और परिवेश; अंक २३ (१९) पारस्परिक कलाएँ: सत्ता, स्वरूप और अभिव्यंजना; अंक २४ (२०) लोककला और भावाभिव्यक्ति; अंक २५ (२१) गांधी शताब्दी और हमारा सांस्कृतिक दायित्व; अंक २९ (२२) पिछड़ी जातियाँ और लोककलाएँ; अंक ३०, ३१ (२३) लोकरंगी कलाएँ: स्वरूप और अभिव्यंजना; अंक ३३ (२४) राजस्थान की ललुआ पुतली; अंक ३४ (२५) दर्शकों और प्रदर्शकों के बीच मैं और मेरे प्रदर्शन; अंक ३६ (२६) लोककलाओं के सांस्कृतिक उपजीव्य; अंक ३७ (२७) विश्वविद्यालयों में लोकसाहित्य का पठनपाठन; अंक ३८ (२८) सुर, लय, ताल और मानव; अंक ३९।

★ **राजस्थान क्षितिज, अलवर**

(१) जौहर; (कविता)।

★ **राष्ट्रवाणी, अजमेर (१९४८-४९)**

(१) सांध्यगीत; (थके दिवस के तप्त पदों पर निखरी मेहँदी की लाली) अगस्त-सितम्बर, ४८ (२) आज तरु पर कौन बोली; (गीत) मार्च-अप्रेल, ४९ (३) करुण स्वरों में गान सुनावें; (गीत) (४) विश्व की गति को प्रगति अथवा अधोगति ही कहूँ मैं ? (गीत) (५) प्रेम का लक्ष्य, (गीत)।

* वाणी, खरगौन (१९३६)

  (१) गद्यगीत; जुलाई।

* विशाल भारत, कलकत्ता (१९४६)

  (१) उजियाले में स्मित संचयकर; मई, ४६ (२) मेरी मंजिल दूर कहीं है; (३) मौन ही क्योंकर रहूँ मैं ? (४) दीप जलाकर पथ देखोगे ? (गीत)।

* वीणा इन्दौर (१९४४-४६)

  (१) आत्मदर्शन; (गद्यगीत), जून, ४४ (२) प्रभात गीत; (किसके मुख-चुम्बन से निकली आज सुभग सुन्दर लाली), फरवरी, ४६ (३) सांध्यगीत; (चलूँ आज शृंगार सजाकर प्रियतम जिवर पलाने), मई, ४६ (४) आज नर्मर के स्वरों में सुन रहा हूँ राग सुन्दर; (गीत), दिसंबर, ४६।

* संगीत, हाथरस (१९६६)

  (१) भारतीय कठपुतलियाँ विदेश में नाचने गई और प्रथम पुरस्कार जीत कर लाई; मार्च।

* सुधा (१९३५-३६)

  (१) घूँघट; अक्टूबर, ३५ (२) आह्वान; जनवरी, ३६ (३) मेरा स्वर्ग; फरवरी, ३६। (गद्यगीत)।

* हंस, काशी (१९४०)

  (१) गद्यगीत (२) अपने घर में दीप जलाऊँ; (गीत) (३) सहज ही मैं चल रहा हूँ; (गीत) (४) बीच उदधि में नाव बहादो; (गीत) (५) वह (गद्यगीत)।

## त्रैमासिक

* आकृति, जयपुर (१९६७)

  (१) लोककला की पृष्ठभूमि; वर्ष २, अंक २।

* आकाशवाणी प्रसारिका, नई दिल्ली (१९५६)

  (१) मरुस्थल में मनोरंजन के साधन; जनवरी-मार्च।

* कलानुसंधान पत्रिका, बीकानेर (१९६८)

  (१) लोकनृत्यों की पृष्ठभूमि; वर्ष १, अंक २।

* जनविकास, उदयपुर (१९७०)

  (१) ड्राइंग आर्ट; गांधी शताब्दी विशेषांक, फरवरी।

★ जनशिक्षण, उदयपुर (१६६१)

(१) कठपुतली कला द्वारा जटिल वालकों की समस्याओं का निराकरण; वर्ष २६, अंक ५।

★ नटरंग, नई दिल्ली (१६६५)

(१) राजस्थान के ख्याल; अंक ३, वर्ष १।

★ नया शिक्षक, बीकानेर (१६६६)

(१) कठपुतलियाँ और कला शिक्षण; वोल्युम ८, नं० ४।

★ बिहार थियेटर, पटना (१६५६)

(१) राजस्थानी रंगमंच; अंक १४।

★ मरुभारती, पिलानी (१६६७-६८)

(१) लोकगीत: पुनर्मूल्यांकन; वर्ष १५, अंक ३।

(२) लोकनाट्य के दर्शक; वर्ष १६, अंक १।

★ रंगयोग, जोधपुर (१६६६-७०)

(१) कत्थक : नयी शैली की खोज; वर्ष १, अंक २।

(२) अलीबक्षी ख्याल; वर्ष १, अंक २।

★ राजस्थान भारती, बीकानेर (१६५२-६७)

(१) राजस्थान के एक प्रतिभाशाली लोक-चित्रकार; भाग ३, अंक १।

(२) भारतीय कथाओं में परंपरा से प्रेरणा लेने की आवश्यकता; भाग १०, अंक ३।

★ लोककला, उदयपुर (१६५३-७०)

(१) राजस्थान का भवाई नृत्य; भाग १, अंक १ (२) मध्य भारतीय भिलालों और भीलों का लोकजीवन; भाग २, अंक १ (३) मध्यभारत की कुछ आदिवासी जातियाँ; भाग २, अंक २ (४) राजस्थान के लोकानुरंजन; भाग ३, अंक १ (५) तुर्रा-कलंगी के खेल; भाग ३, अंक २ (६) राजस्थान का लोकसंगीत; भाग ३, अंक २ तथा भाग ४, अंक १ (७) राजस्थान के लोकवाद्य; भाग ४, अंक २ (८) राजस्थानी लोकगीतों की कुछ स्वर-लिपियाँ; भाग ४, अंक २ (६) राजस्थानी लोकनृत्यों का महत्त्व; मारवाड़ के लोकनृत्य; पूर्वी राजस्थान के लोकनृत्य; हाड़ौती के लोकनृत्य; मेवाड़ के लोकनृत्य; अजमेर के लोकनृत्य; राजस्थानी लोकनाट्य; भाग ५, अंक १ (१०) राजस्थानी लोकनाटकों के वर्तमान रूप और उनके प्रकार; रामलीला

और रासलीला; भीलों का गवरी (गौरी) नृत्यनाट्य; कठपुतली नाट्य; प्रकाशित ख्यालों के संबंध में कुछ ज्ञातव्य; राजस्थानी ख्यालों की विशिष्ट रंगतें; राजस्थानी लोकनाट्य : एक अध्ययन; भाग ५, अंक २ (११) लोक-नाट्यों का विकासक्रम; अंक १२ (१२) राजस्थानी भवाइयों की प्रदर्शन-कला; अंक १३ (१३) रावल खेलों का कलातंत्र; अंक १४ (१४) पाबूजी की पड़ और उसकी प्रदर्शन कला; अंक १६ (१५) कठपुतलियाँ और मानसिक रोगोपचार; अंक २० ।

* शोध पत्रिका, उदयपुर (१६४७-६६)

(१) प्राचीन भारतीय रंगमंच; वर्ष १, अंक १ (२) भीलों का गौरी नृत्य; वर्ष १, अंक २ (३) भारतीय नृत्य-मुद्राएँ; वर्ष १, अंक ४ (४) भारतीय लोकनाट्यों के नाट्य तत्त्व; वर्ष १५, अंक ४ (५) भारतीय नाट्य परम्परा; वर्ष १७, अंक १ ।

★ संस्कृति, नई दिल्ली (१६६१-७०)

(१) कठपुतली कला; वर्ष ३, अंक १ (२) कठपुतली कला के नए मोड़; अंक २, वर्ष ४ (३) लोकगीतों का ध्वनि पक्ष; वर्ष ४, अंक ३ (४) लोक-भजनों की पृष्ठभूमि; वर्ष ७, अंक ३ (५) भारतीय कठपुतलियों का अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान; वर्ष ८, अंक ४ (६) लोककला के प्रेरक लोकदेवता; वर्ष ६, अंक ४ (७) ट्यूनिशिया का अन्तर्राष्ट्रीय लोकनृत्य समारोह; वर्ष १०, अंक २-३ (८) गीत, बाँसुरी और ढोल; वर्ष १०, अंक २-३ । ■

# (३) देवीलाल सामर अभिनंदन समारोह समिति

**संरक्षक**

१. महाराणा साहब श्री भगवतसिंह, उदयपुर
२. मोहनलाल सुखाड़िया, जयपुर
३. जनरल के. एम. करिअप्पा, कुर्ग
४. निरंजननाथ आचार्य, जयपुर
५. सर पदमपत सिंघानिया, कलकत्ता
६. एम. के. सांगी, जोधपुर
७. प्रेमचन्द जैन, वम्बई
८. डॉ० मोहनसिंह मेहता, उदयपुर
९. निहाल अजमेरा, भीलवाड़ा
१०. गोवर्द्धनलाल जोशी, उदयपुर
११. वलवंतसिंह मेहता, उदयपुर
१२. डॉ० शम्भूलाल शर्मा, उदयपुर
१३. मुहम्मद हुसैन हैदरी, उदयपुर
१४. जतनसिंह मुडिया, कानपुर
१५. एम. एल. सोनी, उदयपुर
१६. विरधीचन्द चौधरी, हैदरावाद
१७. मन्मथकुमार मिश्र, सीकर
१८. वी. पी. जोशी, उदयपुर
१९. जीवनसिंह चोडिया, उदयपुर
२०. विजय कुलश्रेष्ठ, नवलगढ़
२१. कन्हैयालाल खत्री, उदयपुर
२२. केसरीसिंह आड़ा, उदयपुर
२३. आई. पी. भाटी, उदयपुर

**अध्यक्ष**

डॉ० डी. एस. कोठारी, नई दिल्ली

**कार्यवाहक अध्यक्ष**

पी. पी. सिंघल, उदयपुर

**उपाध्यक्ष**

१. डॉ० बी.वी. केसकर, नई दिल्ली
२. रामनिवास मिर्धा, जयपुर
३. डॉ० नारायण मेनन, नई दिल्ली
४. डॉ० जी. एस. महाजनी, उदयपुर
५. भगवतसिंह मेहता, नई दिल्ली

**संयोजक :** प्रतापसिंह मुडिया, उदयपुर

**प्रवन्धमंत्री :** रूपलाल शाह, उदयपुर

**प्रचारमंत्री :** वहादुरसिंह सरूपरिया, उदयपुर

**प्रवन्धकारिणी**

१. गोवर्द्धनसिंह मेहता, उदयपुर
२. महन्त मुरलीमनोहर, उदयपुर
३. चैतन्यगिरि गोस्वामी, उदयपुर
४. डॉ० देवीलाल पालीवाल, उदयपुर
५. एम. एन. माथुर, उदयपुर
६. कनक मधुकर, उदयपुर
७. वृजनारायण, वम्बई,

**सम्मानित सदस्य**

१. मथुरादास माथुर, जयपुर
२. शिवचरण माथुर, जयपुर
३. हीरालाल देवपुरा, जयपुर
४. जगन्नाथसिंह मेहता, जयपुर
५. राजेन्द्रशंकर भट्ट, जयपुर
६. उदयशंकर, कलकत्ता
७. मनोहरसिंह राव, उदयपुर
८. विसमिल्लाखां, वाराणसी
९. पद्मश्री पुरुपोत्तम लक्ष्मण देशपांडे, वम्बई
१०. श्रीमती मृणालिनी साराभाई, अहमदावाद
११. जगतसिंह मेहता, नई दिल्ली
१२. लक्ष्मीलाल जोशी, अजमेर
१३. हरकान्तभाई शुक्ल, अहमदावाद
१४. सरदारसिंह चोडिया, ग्वालियर

सदस्य

१. इन्द्र राजदान, नई दिल्ली
२. श्रीमती गुलवर्धन, ग्वालियर
३. इन्द्र दुगड़, कलकत्ता
४. सचिनशंकर, वम्बई
५. भरत व्यास, वम्बई
६. श्रीमती लक्ष्मीशंकर, वम्बई
७. भंवरमल सिंघी, कलकत्ता
८. मोहन खोखर, नई दिल्ली
९. गोरेलाल शुक्ल, भोपाल
१०. टी. वी. नायक, रायपुर
११. रत्नचन्द्र अग्रवाल, जयपुर
१२. डॉ० नारायणसिंह भाटी, चौपासनी
१३. डॉ० मनोहर शर्मा, विसाऊ
१४. सर्वदानंद, वाराणसी
१५. नरेन्द्र शर्मा, नई दिल्ली
१६. डॉ० रामचरणमहेन्द्र, कोटा
१७. नरेन्द्रनाथ व्यास, उदयपुर
१८. जवाहरलाल मुणोत, अमरावती
१९. एस. एस. खंडेलवाल, आगरा
२०. डॉ० स्वर्णलता अग्रवाल, बीकानेर
२१. रावत सारस्वत, जयपुर
२२. गजानन वर्मा, वम्बई
२३. मंगल सक्सेना, उदयपुर
२४. शांति भारद्वाज 'राकेश', उदयपुर
२५. डॉ० शूरवीरसिंह, उदयपुर
२६. सुश्री सुधा राजहंस, जोधपुर
२७. दयाशंकर श्रोत्रिय, उदयपुर
२८. श्रीमती दिनेशनन्दिनी डालमिया, नई दिल्ली
२९. यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र', बीकानेर
३०. श्रीमती शकुन्तला पाठक, अजमेर
३१. श्रीमती लक्ष्मी शर्मा, वनस्थली
३२. श्रीमती शान्ता भानावत, जयपुर
३३. हमीरलाल मुंडिया, उदयपुर
३४. महेशचन्द्र भट्ट, बांसवाड़ा
३५. महाराज दुर्गाशंकरप्रसादसिंह, दलीपपुर
३६. डॉ० रणवीर उपाध्याय, अहमदाबाद
३७. दुर्गालाल माथुर, उदयपुर
३८. श्यामसुन्दर व्यास, उदयपुर
३९. वृजमोहन जावलिया, उदयपुर
४०. कृष्णचन्द्र शास्त्री, उदयपुर
४१. सुनील कोठारी, वम्बई
४२. ओमप्रकाश शर्मा, अजमेर
४३. पन्नालाल मेहता, उदयपुर
४४. सुश्री मंजु भटनागर, जयपुर
४५. गिरधारीलाल शर्मा, उदयपुर
४६. रामचन्द्र बोड़ा, जयपुर
४७. मदनलाल धुप्पड़, उदयपुर
४८. एम. एल. सोडाणी, नई दिल्ली
४९. विश्वनाथ शास्त्री, बुरहानपुर
५०. पियूष सिंघल, उदयपुर
५१. पन्नालाल अग्रवाल, उदयपुर
५२. चन्द्र गंधर्व, उदयपुर
५३. केशव कोठारी, नई दिल्ली
५४. राजेन्द्रसिंह बारहट, जोधपुर
५५. भाई भगवान, डवोक
५६. केशवचन्द्र शर्मा, उदयपुर
५७. नादमूर्ति, उदयपुर
५८. गींडाराम वर्मा, रामगढ़
५९. कुमारी दमयन्ती, हापुड़
६०. सम्पतकुमार शर्मा, उदयपुर
६१. दयाराम, उदयपुर